

7  
0

# अनेकान्तवाद, स्याद्वाद और सप्तभंगी (सिद्धान्त और व्यवहार)

लेखक  
डा० सागरमल जैन

पार्श्वनाथ विद्यापीठ

आई० टी० आई० रोड, करौंदी  
वाराणसी- ५

# अनेकान्तवाद, स्याद्वाद और सप्तभंगी (सिद्धान्त और व्यवहार)

लेखक  
डा० सागरमल जैन

पार्श्वनाथ विद्यापीठ

आई० टी० आई० रोड, करौंदी  
वाराणसी- ५

पार्श्वनाथ विद्यापीठ ग्रंथमाला-५२  
पुस्तक: अनेकान्तवाद, स्याद्वाद और सप्तभंगी  
(सिद्धान्त और व्यवहार)

प्रकाशक  
पार्श्वनाथ विद्यापीठ  
आई०टी०आई० रोड,  
करौंदी, वाराणसी-५.

द्वितीय संस्करण-१९९९  
© पार्श्वनाथ विद्यापीठ

मूल्य - ३०.००

मुद्रक- वर्धमान मुद्रणालय  
वाराणसी-१०

**Anekāntavāda, Syādvāda Aura Saptabhaṅgi**  
(Siddhānta Aura Vyavahāra)

Publisher:  
**Pārśwanātha Vidyāpiṭha**  
I.T.I. Road, Karaundi,  
Varanasi-5.  
Phone- 316521, 318046  
Second Edition-1999  
© Pārśwanātha Vidyāpiṭha

**Price Rs. 30.00**

Type set at- Rajesh Computers, Varanasi.  
Printed at- Vardhaman Mudranalaya, Varanasi-10

# अनेकान्तवाद : सिद्धान्त और व्यवहार

## अनेकान्त एक व्यावहारिक पद्धति

अनेकान्तवाद एक दार्शनिक सिद्धान्त होने की अपेक्षा दार्शनिक मन्तव्यों, मान्यताओं और स्थापनाओं को उनके सम्यक् परिप्रेक्ष्य में व्याख्यायित करने की पद्धति (Method) विशेष है। इस प्रकार अनेकान्तवाद का मूल प्रयोजन सत्य को उसके विभिन्न आयामों में देखने, समझने और समझाने का प्रयास करना है। अतः वह सत्य के खोज की एक व्यावहारिक पद्धति है, जो सत्ता (Reality) को उसके विविध आयामों में देखने का प्रयत्न करती है। दार्शनिक विधियाँ दो प्रकार की होती हैं- १. तार्किक या बौद्धिक और २. आनुभविक। तार्किक विधि सैद्धान्तिक होती है, वह दार्शनिक स्थापनाओं में तार्किक संगति को देखती है। इसके विपरीत आनुभविक विधि सत्य की खोज तर्क के स्थान पर मानवीय अनुभूतियों के सहारे करती है। उसके लिए तार्किक संगति की अपेक्षा आनुभविक संगति ही अधिक महत्वपूर्ण होती है। अनेकान्तवाद की विकास यात्रा इसी आनुभविक पद्धति के सहारे चलती है। उसका लक्ष्य 'सत्य' क्या है यह बताने की अपेक्षा सत्य कैसा अनुभूत होता है- यह बताना है। अनुभूतियाँ वैयक्तिक होती हैं और इसीलिए अनुभूतियों के आधार पर निर्मित दर्शन भी विविध होते हैं। अनेकान्त का कार्य उन सभी दर्शनों की सापेक्षिक सत्यता को उजागर करके उनमें रहे हुए विरोधों को समाप्त करना है। इस प्रकार अनेकान्त एक सिद्धान्त होने की अपेक्षा एक व्यावहारिक पद्धति ही अधिक है। यही कारण है कि अनेकान्तवाद की एक दार्शनिक सिद्धान्त के रूप में स्थापना करने वाले आचार्य सिद्धसेन दिवाकर (ई० चतुर्थ शती) को भी अनेकान्तवाद की इस व्यावहारिक महत्ता के आगे नतमस्तक होकर कहना पड़ा-

जेण विणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा ण णिव्वडइ ।

तस्स भुवणेक्क गुरुणो णमो अणेगंतवायस्स ।।

सन्मति-तर्क-प्रकरण- ३/७०

अर्थात् जिसके बिना लोक-व्यवहार का निर्वहन भी सर्वथा सम्भव नहीं है, उस संसार के एक मात्र गुरु अनेकान्तवाद को नमस्कार है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अनेकान्तवाद एक व्यावहारिक दर्शन है। इसकी महत्ता उसकी व्यावहारिक उपयोगिता पर निर्भर है। उसका जन्म दार्शनिक विवादों के सर्जन के लिए नहीं, अपितु उनके निराकरण के लिए हुआ है। दार्शनिक विवादों के बीच समन्वय के सूत्र खोजना ही अनेकान्तवाद की व्यावहारिक उपादेयता का प्रमाण है। अनेकान्तवाद का यह कार्य त्रिविध है-

१. प्रत्येक दार्शनिक अवधारणा के गुण-दोषों की समीक्षा करना और इस समीक्षा में यह देखने का प्रयत्न करना कि उसकी हमारे व्यावहारिक जीवन में क्या उपयोगिता है। जैसे बौद्ध दर्शन के क्षणिकवाद और अनात्मवाद की समीक्षा करते हुए यह देखना कि तृष्णा के उच्छेद के लिए क्षणिकवाद और अनात्मवाद की दार्शनिक अवधारणाएं कितनी आवश्यक एवं उपयोगी हैं।

२. प्रत्येक दार्शनिक अवधारणा की सापेक्षिक सत्यता को स्वीकार करना और यह निश्चित करना कि उसमें जो सत्यांश है, वह किसी अपेक्षा विशेष से है। जैसे यह बताना कि सत्ता की नित्यता की अवधारणा द्रव्य की अपेक्षा से अर्थात् द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से सत्य है और सत्ता की अनित्यता उसकी पर्याय की अपेक्षा से औचित्यपूर्ण है। इस प्रकार वह प्रत्येक दर्शन की सापेक्षिक सत्यता को स्वीकार करता है और वह सापेक्षिक सत्यता किस अपेक्षा से है, उसे भी स्पष्ट करता है।

३. अनेकान्तवाद का तीसरा महत्वपूर्ण उपयोगी कार्य विभिन्न एकांतिक मान्यताओं को समन्वय के सूत्र में पिरोकर उनके एकान्त रूपी दोष का निराकरण करते हुए उनके पारस्परिक विद्वेष का निराकरण कर उनमें सौहार्द और सौमनस्य स्थापित कर देना है। जिस प्रकार एक वैद्य किसी विष विशेष के दोषों की शुद्धि करके उसे औषधि बना देता है उसी प्रकार अनेकान्तवाद भी दर्शनों अथवा मान्यताओं के एकान्तरूपी विष का निराकरण करके उन्हें एक दूसरे का सहयोगी बना देता है। अनेकान्तवाद के उक्त तीनों ही कार्य (Functions) उसकी व्यावहारिक उपादेयता को स्पष्ट कर देते हैं।

## दर्शन का जन्म

दर्शन का जन्म मानवीय जिज्ञासा से होता है। ईसा पूर्व छठी शती में मनुष्य की यह जिज्ञासा पर्याप्त रूप से प्रौढ़ हो चुकी थी। अनेक विचारक विश्व के रहस्योद्घाटन के लिए प्रयत्नशील थे। इन जिज्ञासु चिन्तकों के सामने अनेक समस्याएँ थीं, जैसे- इस दृश्यमान विश्व की उत्पत्ति कैसे हुई, इसका मूल कारण क्या है? वह मूल कारण या

परमतत्त्व जड़ है या चेतन? पुनः यह जगत् सत् से उत्पन्न हुआ है या असत् से ? यदि यह संसार सत् से उत्पन्न हुआ तो वह सत् या मूल तत्त्व एक है या अनेक। यदि वह एक है तो वह पुरुष (ब्रह्म) है या पुरुषेतर (जड़तत्त्व) है, यदि पुरुषेतर है तो वह जल, वायु, अग्नि, आकाश आदि में से क्या है? पुनः यदि वह अनेक है तो वे अनेक तत्त्व कौन से हैं? पुनः यदि यह संसार सृष्ट है तो वह स्रष्टा कौन है? उसने जगत् की सृष्टि क्यों की और किससे की? इसके विपरीत यदि यह असृष्ट है तो क्या अनादि है? पुनः यदि यह अनादि है तो इसमें होने वाले उत्पाद, व्यय रूपी परिवर्तनों की क्या व्याख्या है, आदि। इस प्रकार के अनेक प्रश्न मानव मस्तिष्क में उठ रहे थे। चिन्तकों ने अपने चिन्तन एवं अनुभव के बल पर इनके अनेक प्रकार से उत्तर दिये। चिन्तकों या दार्शनिकों के इन विविध उत्तर या समाधानों का कारण दोहरा था, एक ओर वस्तुतत्त्व या सत्ता की बहुआयामिता और दूसरी ओर मानवीय बुद्धि, ऐन्द्रिक अनुभूति एवं अभिव्यक्ति सामर्थ्य की सीमितता। फलतः प्रत्येक चिन्तक या दार्शनिक ने सत्ता को अलग-अलग रूप में व्याख्यायित किया।

सामान्यतया इस अनैकान्तिक दृष्टि को जैन दर्शन के साथ जोड़ा जाता है और इस सत्य को नकारा भी नहीं जा सकता है, क्योंकि अनेकान्तवाद, स्याद्वाद और सप्तभंगी के विकास का श्रेय जैन दार्शनिकों को है। फिर भी इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि अनेकान्त दृष्टि केवल जैन दार्शनिकों की एकमात्र बपौती है। दार्शनिक मत वैभिन्न्य और उनके समन्वय के प्रयासों की उपस्थिति के संकेत तो वैदिक और औपनिषदिक साहित्य में भी मिलते हैं। मात्र यही नहीं अन्य भारतीय दर्शनों में भी ऐसे प्रयास हुए हैं।

### अनेकान्तवाद के विकास का इतिहास

भारतीय साहित्य में वेद प्राचीनतम है। उनमें भी ऋग्वेद सर्वाधिक प्राचीन है उसके नासदीयसूक्त (१०:१२:२) में परमतत्त्व के सत् या या असत् होने के सम्बन्ध में न केवल जिज्ञासा प्रस्तुत की गई, अपितु अन्त में ऋषि ने कह दिया कि उस परसत्ता को न सत् कहा जा सकता है और न असत्। इस प्रकार सत्ता की बहुआयामिता और उसमें अपेक्षा भेद से परस्पर विरोधी गुण धर्मों की उपस्थिति की स्वीकृति वेदकाल में भी मान्य रही है और ऋषियों ने उसके विविध आयामों को जानने-समझने और अभिव्यक्त करने का प्रयास भी किया है। मात्र यही नहीं ऋग्वेद (१ : १६४ : ४६) में ही परस्पर विरोधी मान्यताओं में निहित सापेक्षिक सत्यता को स्वीकार करते हुए यह भी कहा गया है- **एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति** अर्थात् सत् एक है विद्वान् उसे अनेक दृष्टि से व्याख्यायित करते हैं।

**इस प्रकार हम देखते हैं कि अनैकान्तिक दृष्टि का इतिहास अति प्राचीन है। न**

केवल वेदों में अपितु उपनिषदों में भी इस अनैकान्तिक दृष्टि उल्लेख के अनेकों संकेत उपलब्ध हैं। उपनिषदों में अनेक स्थलों पर परमसत्ता के बहुआयामी होने और उसमें परस्पर विरोधी कहे जाने वाले गुणधर्मों की उपस्थिति के संदर्भ मिलते हैं। जब हम उपनिषदों में अनैकान्तिकदृष्टि के सन्दर्भों की खोज करते हैं तो उनमें हमें निम्न तीन प्रकार के दृष्टिकोण उपलब्ध होते हैं-

- (१) अलग-अलग सन्दर्भों में परस्पर विरोधी विचारधाराओं का प्रस्तुतीकरण।
- (२) एकान्तिक विचारधाराओं का निषेध।
- (३) परस्पर विरोधी विचारधाराओं के समन्वय का प्रयास।

सृष्टि का मूलतत्त्व सत् है या असत् इस समस्या के सन्दर्भ में हमें उपनिषदों में दोनों ही प्रकार की विचारधाराओं के संकेत उपलब्ध होते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् (२.७) में कहा गया है कि प्रारम्भ में असत् ही था उसी से सत् उत्पन्न हुआ। इसी विचार धारा की पुष्टि छान्दोग्योपनिषद् (३/१९/१) में भी उपलब्ध होती है। उसमें भी कहा गया है कि सर्वप्रथम असत् ही था उससे सत् हुआ और सत् से सृष्टि हुई। इस प्रकार हम देखते हैं कि इन दोनों में असत्वादी विचारधारा का प्रतिपादन हुआ, किन्तु इसी के विपरीत उसी छान्दोग्योपनिषद् (६:२:१, ३) में यह भी कहा गया कि पहले अकेला सत् ही था, दूसरा कुछ नहीं था, उसी से यह सृष्टि हुई है। बृहदारण्यकोपनिषद् (१: ४: १-४) में भी इसी तथ्य की पुष्टि करते हुए कहा गया है कि जो कुछ भी सत्ता है उसका आधार लोकातीत सत् ही है। प्रपञ्चात्मक जगत् इसी सत् से उत्पन्न होता है।

इसी तरह विश्व का मूलतत्त्व जड़ है या चेतन इस प्रश्न को लेकर उपनिषदों में दोनों ही प्रकार के सन्दर्भ उपलब्ध होते हैं। एक ओर बृहदारण्यकोपनिषद् (२: ४ : १२) में याज्ञवल्क्य, मैत्रेयी से कहते हैं कि चेतना इन्हीं भूतों में से उत्पन्न होकर उन्हीं में लीन हो जाती है तो दूसरी ओर छान्दोग्योपनिषद् (६:२:१, ३) में कहा गया है कि पहले अकेला सत् (चित्त तत्त्व) ही था दूसरा कोई नहीं था। उसने सोचा कि मैं अनेक हो जाऊं और इस प्रकार सृष्टि की उत्पत्ति हुई। इसी तथ्य की पुष्टि तैत्तिरीयोपनिषद् (२ : ६) से भी होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उपनिषदों में परस्पर विरोधी विचारधारायें प्रस्तुत की गयी हैं। यदि ये सभी विचारधारायें सत्य हैं तो इससे औपनिषदिक ऋषियों की अनेकान्त दृष्टि का ही परिचय मिलता है। यद्यपि ये सभी संकेत एकान्तवाद को प्रस्तुत करते हैं, किन्तु विभिन्न एकान्तवादों की स्वीकृति में ही अनेकान्तवाद का जन्म होता है, अतः हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि औपनिषदिक चिन्तनों में विभिन्न एकान्तवादों को स्वीकार करने की अनैकान्तिक दृष्टि अवश्य थी। क्योंकि उपनिषदों में हमें ऐसे अनेक संकेत मिलते हैं जहाँ एकान्तवाद का निषेध किया गया है। बृहदारण्यकोपनिषद् (३:८:८) में ऋषि कहता है कि 'वह स्थूल भी नहीं है और सूक्ष्म भी नहीं है। वह ह्रस्व भी नहीं

हैं और दीर्घ भी नहीं हैं। इस प्रकार यहाँ हमें स्पष्टतया एकान्तवाद का निषेध प्राप्त होता है। एकान्त के निषेध के साथ-साथ सत्ता में परस्पर विरोधी गुणधर्मों की उपस्थिति के संकेत भी हमें उपनिषदों में मिल जाते हैं। तैत्तिरीयोपनिषद् (२:६) में कहा गया है कि वह परम सत्ता मूर्त-अमूर्त, वाच्य-अवाच्य, विज्ञान (चेतन)-अविज्ञान (जड़), सत्-असत्, रूप है। इसी प्रकार कठोपनिषद् (१:२०) में उस परम सत्ता को अणु की अपेक्षा भी सूक्ष्म व महत् की अपेक्षा भी महान कहा गया है। यहाँ परम सत्ता में सूक्ष्मता और महत्ता दोनों ही परस्पर विरोधी धर्म एक साथ स्वीकार करने का अर्थ अनेकान्त की स्वीकृति के अतिरिक्त क्या हो सकता है? पुनः उसी उपनिषद् (३:१२) में एक और आत्मा को ज्ञान का विषय बताया गया है वहीं दूसरी ओर उसे ज्ञान का अविषय बताया गया है। जब इसकी व्याख्या का प्रश्न आया तो आचार्य शंकर को भी कहना पड़ा कि यहाँ अपेक्षा भेद से जो अज्ञेय है उसे ही सूक्ष्म ज्ञान का विषय बताया गया है। यही उपनिषद्कारों का अनेकान्त है। इसी प्रकार श्वेताश्वतरोपनिषद् (१.७) में भी उस परम सत्ता को क्षर एवं अक्षर, व्यक्त एवं अव्यक्त ऐसे परस्पर विरोधी धर्मों से युक्त कहा गया है। यहाँ भी सत्ता या परमतत्त्व की बहुआयामिता या अनैकान्तिकता स्पष्ट होती है। मात्र यही नहीं यहाँ परस्पर विरुद्ध धर्मों की एक साथ स्वीकृति इस तथ्य का प्रमाण है कि उपनिषद्कारों की शैली अनेकान्तात्मक रही है। यहाँ हम देखते हैं कि उपनिषदों का दर्शन जैन दर्शन के समान ही सत्ता में परस्पर विरोधी गुणधर्मों को स्वीकार करता प्रतीत होता है। मात्र यही नहीं उपनिषदों में परस्पर विरोधी मतवादों के समन्वय के सूत्र भी उपलब्ध होते हैं जो यह सिद्ध करते हैं कि उपनिषद्कारों ने न केवल एकान्त का निषेध किया, अपितु सत्ता में परस्पर विरोधी गुणधर्मों को स्वीकृति भी प्रदान की। जब औपनिषदिक ऋषियों को यह लगा होगा कि परमतत्त्व में परस्पर विरोधी गुणधर्मों की एक ही साथ स्वीकृति तार्किक दृष्टि से युक्तिसंगत नहीं होगी तो उन्होंने उस परमतत्त्व को अनिर्वचनीय या अवक्तव्य भी मान लिया। तैत्तिरीय उपनिषद् (२) में यह भी कहा गया है कि वहाँ वाणी की पहुँच नहीं है और उसे मन के द्वारा भी प्राप्त नहीं किया जा सकता (यतो वाचो निर्वर्तन्ते अप्राप्यमनसा सह)। इससे ऐसा लगता है कि उपनिषद् काल में सत्ता के सत्, असत्, उभय और अवक्तव्य/अनिर्वचनीय-ये चारो पक्ष स्वीकृत हो चुके थे। किन्तु औपनिषदिक ऋषियों की विशेषता यह है कि उन्होंने उन विरोधों के समन्वय का मार्ग भी प्रशस्त किया। इसका सबसे उत्तम प्रतिनिधित्व हमें ईशावस्योपनिषद् (४) में मिलता है। उसमें कहा गया है कि -

**“अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनदेवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत्”**

अर्थात् वह गतिरहित है फिर भी मन से एवं देवों से तेज गति करता है।

“तदेजति तत्रेजति तदूरे तद्वन्तिके, अर्थात् वह चलता है और नहीं भी चलता है, वह



दूर भी है, वह पास भी है। इस प्रकार उपनिषदों में जहाँ विरोधी प्रतीति होने वाले अंश हैं, वहीं उनमें समन्वय को मुखरित करने वाले अंश भी प्राप्त होते हैं। पमरसत्ता के एकत्व अनेकत्व, जड़त्व-चेतनत्व आदि विविध आयामों में से किसी एक को स्वीकार कर उपनिषद् काल में अनेक दार्शनिक दृष्टियों का उदय हुआ। जब ये दृष्टियाँ अपने-अपने मन्तव्यों को ही एकमात्र सत्य मानते हुए, दूसरे का निषेध करने लगीं तब सत्य के गवेषकों को एक ऐसी दृष्टि का विकास करना पड़ा जो सभी की सापेक्षिक सत्यता को स्वीकार करते हुए उन विरोधी विचारों का समन्वय कर सके। यह विकसित दृष्टि अनेकान्त दृष्टि है जो वस्तु में प्रतीति के स्तर पर दिखाई देने वाले विरोध के अन्तस्म में अविरोध को देखती है और सैद्धान्तिक द्वन्द्वों के निराकरण का एक व्यावहारिक एवं सार्थक समाधान प्रस्तुत करती है। इस प्रकार अनेकान्तवाद विरोधों के शमन का एक व्यावहारिक दर्शन है। वह उन्हें समन्वय के सूत्र में पिरोने का सफल प्रयास करता है।

ईशावास्य में पग-पग पर अनेकान्त जीवन दृष्टि के संकेत प्राप्त होते हैं वह अपने प्रथम श्लोक में ही **“त्येन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्”** कहकर त्याग एवं भोग- इन दो विरोधी तथ्यों का समन्वय करता है एवं एकान्त त्याग और एकान्त भोग दोनों को सम्यक् जीवन दृष्टि के लिए अस्वीकार करता है। जीवन न तो एकान्त त्याग पर चलता है और न एकान्त भोग पर, बल्कि जीवनयात्रा त्याग और भोगरूपी दोनों चक्रों के सहारे चलती है। इस प्रकार ईशावास्य सर्वप्रथम अनेकान्त की व्यावहारिक जीवनदृष्टि को प्रस्तुत करता है। इसी प्रकार कर्म और अकर्म सम्बन्धी एकान्तिक विचारधाराओं में समन्वय करते हुए ईशावास्य (२) कहता है कि **“कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतां समाः”** अर्थात् मनुष्य निष्काम भाव से कर्म करते हुए सौ वर्ष जीये। निहितार्थ यह है कि जो कर्म सामान्यतया सकाम या सप्रयोजन होते हैं वे बन्धनकारक होते हैं, किन्तु यदि कर्म निष्काम भाव से बिना किसी स्पृहा के हों तो उनसे मनुष्य लिप्त नहीं होता, अर्थात् वे बन्धन कारक नहीं होते। निष्काम कर्म की यह जीवन-दृष्टि व्यावहारिक जीवन-दृष्टि है। भेद-अभेद का व्यावहारिक दृष्टि से समन्वय करते हुए उसी में आगे कहा गया है कि -

**यस्तु सर्वाणिभूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।**

**सर्वभूतेषुचात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥ (ईशा० ६)**

अर्थात् जो सभी प्राणियों में अपनी आत्मा को और अपनी आत्मा में सभी प्राणियों को देखता है वह किसी से भी घृणा नहीं करता। यहां जीवात्माओं में भेद एवं अभेद दोनों को एक साथ स्वीकार किया गया है। यहाँ भी ऋषि की अनेकान्तदृष्टि ही परिलक्षित होती है जो समन्वय के आधार पर पारस्परिक घृणा को समाप्त करने की बात

कहती है।

एक अन्य स्थल पर विद्या (अध्यात्म) और अविद्या (विज्ञान) (ईशा० १०) में तथा सम्भूति (कार्यब्रह्म) एवं असम्भूति (कारणब्रह्म) (ईशा० १२) अथवा वैयक्तिकता और सामाजिकता में भी समन्वय करने का प्रयास किया गया है। ऋषि कहता है कि जो अविद्या की उपासना करता है वह अन्धकार में प्रवेश करता है और जो विद्या की उपासना करता है वह उससे भी गहन अन्धकार में प्रवेश करता है (ईशा० ९) और वह जो दोनों को जानता है या दोनों का समन्वय करता है वह अविद्या से मृत्यु पर विजय प्राप्त कर विद्या से अमृत तत्त्व को प्राप्त करता है (ईशा० ११)। यहाँ विद्या और अविद्या अर्थात् अध्यात्म और विज्ञान की परस्पर समन्वित साधना अनेकान्त दृष्टि के व्यावहारिक पक्ष को प्रस्तुत करती है। उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि सत्ता की बहुआयामिता और समन्वयवादी व्यावहारिक जीवन दृष्टि का अस्तित्व बुद्ध और महावीर से पूर्व भी था, जिसे अनेकान्त दर्शन का आधार माना जा सकता है।

अनेकान्तवाद का मूल प्रयोजन सत्य को उसके विभिन्न आयामों में देखने, समझने और समझाने का प्रयत्न है। यही कारण है कि मानवीय प्रज्ञा के विकास के प्रथम चरण से ही ऐसे प्रयास परिलक्षित होने लगते हैं। भारतीय मनीषा के प्रारम्भिक काल में हमें इस दिशा में दो प्रकार के प्रयत्न दृष्टिगत होते हैं- (क) बहुआयामी सत्ता के किसी पक्ष विशेष की स्वीकृति के आधार पर अपनी दार्शनिक मान्यता का प्रस्तुतीकरण तथा (ख) उन एकपक्षीय (एकान्तिक) अवधारणाओं के समन्वय का प्रयास। समन्वयसूत्र का-सृजन ही अनेकान्तवाद की व्यावहारिक उपादेयता को स्पष्ट करता है। वस्तुतः अनेकान्तवाद का कार्य त्रिविध है- प्रथम, तो यह विभिन्न एकान्तिक अवधारणाओं के गुण-दोषों की तार्किक समीक्षा करता है, दूसरे वह उस समीक्षा में यह देखता है कि इस अवधारणा में जो सत्यांश है वह किस अपेक्षा से है, तीसरे, वह उन सोपक्षिक सत्यांशों के आधार पर, उन एकान्तवादों को समन्वित करता है।

इस प्रकार अनेकान्तवाद मात्र तार्किक पद्धति न होकर एक व्यावहारिक दार्शनिक पद्धति है। यह एक सिद्धान्त मात्र न होकर, सत्य को देखने और समझने की पद्धति (method or system) विशेष है, और यही उसकी व्यावहारिक उपादेयता है।

**अनेकांत क्यों ?**

जैन दर्शन की विशिष्टता उसकी अनेकान्त दृष्टि में है। उसकी तत्त्वमीमांसीय एवं ज्ञानमीमांसीय दार्शनिक अवधारणाओं की संरचना में इस अनैकान्तिक दृष्टि का प्रयोग किया गया है। अपनी अनेकान्त दृष्टि के कारण ही जैन दर्शन ने भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों की परस्पर विरोधी दार्शनिक अवधारणाओं के मध्य समन्वय स्थापित करके

उन्हें एक व्यापक परिप्रेक्ष्य में परिभाषित करने का प्रयत्न किया है। जैन दार्शनिकों की यह दृढ़ मान्यता है कि अनैकान्तिक दृष्टि के द्वारा परस्पर विरोधी दार्शनिक अवधारणाओं के मध्य रहे हुए विरोध का परिहार करके उनमें समन्वय स्थापित किया जा सकता है। उसकी इस अनैकान्तिक समन्वयशील दृष्टि का परिचय हमें उसकी वस्तुतत्त्व सम्बन्धी विवेचनाओं में भी परिलक्षित होता है।

## वस्तुतत्त्व की अनन्तधर्मात्मकता

जैनदर्शन में वस्तु को अनन्तधर्मात्मक एवं अनैकान्तिक कहा गया है। वस्तु की यह तात्त्विक अनन्तधर्मात्मकता अर्थात् अनैकान्तिकता ही जैनदर्शन के अनेकान्त सिद्धान्त का आधार है। वस्तुतत्त्व अनन्तधर्मात्मक है, अतः उसे अनैकान्तिक शैली में ही परिभाषित किया जा सकता है। यह कहना अत्यन्त कठिन है कि वस्तुतत्त्व की अनन्त धर्मात्मकता और अनैकान्तिकता में कौन प्रथम है? वस्तुतत्त्व की अनन्तधर्मात्मकता में उसकी अनैकान्तिकता और उसकी अनैकान्तिकता में उसकी अनन्तधर्मात्मकता सन्निहित है। यह एक अनुभूत सत्य है कि वस्तु में न केवल विभिन्न गुणधर्मों की प्रतीति होती है, अपितु उसमें अनेक विरोधी धर्मयुगल भी पाये जाते हैं। एक ही आम्रफल कभी खट्टा, कभी मीठा और कभी खट्टा-मीठा होता है। एक पत्ती जो प्रारम्भिक अवस्था में लाल प्रतीत होती है वही कालान्तर में हरी और फिर सूखकर पीली हो जाती है। इससे यह स्पष्ट है कि वस्तुतत्त्व अपने में विविधता लिये हुए है। उसके विविध गुणधर्मों में समय-समय पर कुछ प्रकट और कुछ गौण बने रहते हैं, यही वस्तु की अनन्त धर्मात्मकता है और वस्तु में परस्पर विरोधी धर्म युगलों का पाया जाना उसकी अनैकान्तिकता है। द्रव्य और पर्याय की अपेक्षा से विचार करें तो जो सत् है वही असत् भी है, जो एक है वही अनेक भी है, जो नित्य है वही अनित्य भी है। इससे सिद्ध है कि वस्तु न केवल अनन्त धर्मों का पुंज है बल्कि उसमें एक ही समय में परस्पर विरोधी गुणधर्म भी पाये जाते हैं। पुनः वस्तु के स्वस्वरूप का निर्धारण केवल भावात्मक गुणों के आधार पर नहीं होता बल्कि उसके अभावात्मक गुणों का भी निश्चय करना होता है। गाय को गाय होने के लिए उसमें गोत्व की उपस्थिति के साथ-साथ महिषत्व, अश्वत्व आदि का अभाव होना भी आवश्यक है। गाय गाय है, यह निश्चय तभी होगा जब हम यह निश्चय कर लें कि उसमें गाय के विशिष्ट गुणधर्म पाये जाते हैं और बकरी के विशिष्ट लक्षण नहीं पाये जाते हैं। इसलिए प्रत्येक वस्तु में जहाँ अनेकानेक भावात्मक धर्म होते हैं वहीं उसमें अनन्तानन्त अभावात्मक धर्म भी होते हैं। अनेकानेक धर्मों का सद्भाव और उससे कई गुना अधिक धर्मों का अभाव मिलकर ही उस वस्तु का स्वलक्षण बनाते हैं। भाव और अभाव मिलकर ही वस्तु के स्वरूप को निश्चित करते हैं। वस्तु इस-इस प्रकार की है और इस-इस प्रकार

की नहीं है, इसी से वस्तु का स्वरूप निश्चित होता है।

### वस्तुतत्त्व की अनैकांतिकता

वस्तु या सत् की परिभाषा को लेकर विभिन्न दर्शनों में मतभेद पाया जाता है। जहाँ औपनिषदिक और शांकर वेदान्त दर्शन 'सत्' को केवल कूटस्थ नित्य मानता है, वहाँ बौद्ध दर्शन वस्तु को निरन्वय, क्षणिक और उत्पाद-व्ययधर्मा मानता है। सांख्य दर्शन का दृष्टिकोण तीसरा है। वह जहाँ चेतन सत्ता पुरुष को कूटस्थ नित्य मानता है, वहीं जड़ तत्त्व प्रकृति को परिणामी नित्य मानता है। न्याय-वैशेषिक दर्शन जहाँ परमाणु, आत्मा आदि द्रव्यों को कूटस्थ नित्य मानता है वहीं घट-पट आदि पदार्थों को मात्र उत्पाद-व्ययधर्मा मानता है। इस प्रकार वस्तुतत्त्व की परिभाषा के सन्दर्भ में विभिन्न दर्शन अलग-अलग दृष्टिकोण अपनाते हैं। जैनदर्शन इन समस्त एकान्तिक अवधारणाओं को समन्वित करता हुआ सत् या वस्तुतत्त्व को अपनी अनैकान्तिक शैली में परिभाषित करता है।

जैनदर्शन में आगम युग से ही वस्तुतत्त्व को अनैकान्तिक शैली में परिभाषित किया जाता रहा है। जैनदर्शन में तीर्थंकरों को त्रिपदी का प्रवक्ता कहा गया है। वे वस्तुतत्त्व को "उप्पत्तेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा" इन तीन पदों के द्वारा परिभाषित करते हैं। उनके द्वारा वस्तुतत्त्व को अनेकधर्मा और अनैकांतिक रूप में ही परिभाषित किया गया है। उत्पत्ति, विनाश, ध्रौव्यता आदि इन विरोधी गुणधर्मों में ऐसा नहीं है कि उत्पन्न कोई दूसरा होता है, विनष्ट कोई दूसरा होता है। वस्तुतः जैनों के अनुसार जो उत्पन्न होता है वही विनष्ट होता है और जो विनष्ट होता है, वही उत्पन्न होता है और यही उसकी ध्रौव्यता है। वे मानते हैं कि जो सत्ता एक पर्यायरूप में विनष्ट हो रही है वही दूसरी पर्याय के रूप में उत्पन्न भी हो रही है और पर्यायों के उत्पत्ति और विनाश के इस क्रम में भी उसके स्वलक्षणों का अस्तित्व बना रहता है। उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र (५.२९) में "उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकं सत्" कहकर वस्तु के इसी अनैकान्तिक स्वरूप को स्पष्ट किया है।

प्रायः यह कहा जाता है कि उत्पत्ति और विनाश का सम्बन्ध पर्यायों से है। द्रव्य तो नित्य ही है, पर्याय परिवर्तित होती है, किन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि द्रव्य, गुण और पर्याय विविक्त सत्ताएं नहीं हैं, अपितु एक ही सत्ता की अभिव्यक्तियाँ हैं। न तो गुण और पर्याय से पृथक् द्रव्य होता है और न द्रव्य से पृथक् गुण और पर्याय ही। इसीलिए तत्त्वार्थसूत्र (५.३७) में 'गुणपर्यायवत् द्रव्यम्' कहकर द्रव्य को परिभाषित किया गया है। द्रव्य की परिणाम जनन शक्ति को ही गुण कहा जाता है और गुणजन्य परिणाम विशेष पर्याय है। यद्यपि गुण और पर्याय में कार्य-कारण भाव है, किन्तु यहाँ यह कार्य-कारण भाव परस्पर भिन्न सत्ताओं में न होकर एक ही सत्ता में है। कार्य और

कारण परस्पर भिन्न न होकर भिन्नाभिन्न ही हैं। द्रव्य उसकी अंशभूत शक्तियों के उत्पन्न और विनष्ट न होने पर नित्य अर्थात् ध्रुव है परन्तु प्रत्येक पर्याय उत्पन्न और विनष्ट होती है इसलिए वह सादि और सान्त भी है। क्योंकि द्रव्य का ही पर्याय रूप में परिणमन होता है इसलिए द्रव्य को ध्रुव मानते हुए भी अपनी परिणमनशीलता गुण के कारण उत्पाद-व्यय युक्त भी कहा गया है। चूँकि पर्याय और गुण द्रव्य से पृथक् नहीं हैं और द्रव्य, गुण और पर्यायों से पृथक् नहीं है, अतः यह मानना होगा कि जो नित्य है वही परिवर्तनशील भी है अर्थात् अनित्य भी है। यही वस्तु या सत्ता की अनैकान्तिकता है और इसी के आधार पर लोक-व्यवहार चलता है।

यद्यपि यह कहा जा सकता है कि उत्पाद-व्ययात्मकता और ध्रौव्यता अथवा नित्यता और अनित्यता परस्पर विरुद्ध धर्म होने से एक ही साथ एक वस्तु में नहीं हो सकते। यह कथन कि जो नित्य है वही अनित्य भी है, जो परिवर्तनशील है वही अपरिवर्तनशील भी है, तार्किक दृष्टि से विरोधाभासपूर्ण प्रतीत होता है और यही कारण है कि बौद्धों और वेदान्तियों ने इस अनेकान्त दृष्टि को अनर्गल प्रलाप कहा है। किन्तु अनुभव के स्तर पर इनमें कोई विरोध प्रतीत नहीं होता है। एक ही व्यक्ति बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था को प्राप्त होता है। इन विभिन्न अवस्थाओं के फलस्वरूप उसके शरीर, ज्ञान, बुद्धि, बल आदि में स्पष्ट रूप से परिवर्तन परिलक्षित होते हैं, फिर भी उसे वही व्यक्ति माना जाता है। जो बालक था वही युवा हुआ और वही वृद्ध होगा। अतः जैनों ने वस्तु को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक कहकर जो इसका अनैकान्तिक स्वरूप निश्चित किया है वह भले तार्किक दृष्टि से आत्मविरोधी प्रतीत होता हो किन्तु आनुभविक स्तर पर उसमें कोई विरोध नहीं है। जिस प्रकार व्यक्ति बदलकर भी नहीं बदलता उसी प्रकार वस्तु भी परिवर्तनों के बीच वही बनी रहती है।

जैनों के अनुसार नित्यता और परिवर्तनशीलता में कोई आत्मविरोध नहीं है। वस्तु के अपने स्वलक्षण स्थिर रहते हुए भी निमित्त के अनुसार परिवर्तन को प्राप्त करते हैं। अस्तित्व या सत्ता की दृष्टि से द्रव्य नित्य है किन्तु पर्यायों की अपेक्षा से उसमें अनित्यता परिलक्षित होती है। यदि वस्तु को सर्वथा क्षणिक माना जायेगा तो उसमें यह अनुभव कभी नहीं होगा कि यह वही है। यह वही है ऐसा प्रत्यभिज्ञान तो तभी सम्भव हो सकता है जब वस्तु में ध्रौव्यता को स्वीकार किया जाय। जिस प्रकार वस्तु की पर्यायों में होने वाला परिवर्तन अनुभूत सत्य है, उसी प्रकार 'वह वही है' इस रूप में होनेवाला प्रत्यभिज्ञान अनुभूत सत्य है। एक व्यक्ति बालभाव का त्याग करके युवावस्था को प्राप्त करता है- इस घटना में बालभाव का क्रमिक विनाश और युवावस्था की क्रमिक उत्पत्ति हो रही है, किन्तु यह भी सत्य है कि 'वह' जो बालक था 'वही' युवा हुआ है और यह 'वही' होना ही ध्रौव्यत्व है। इस प्रकार वस्तुतत्त्व को अनैकान्तिक मानने का अर्थ है- वह

न केवल अनन्त गुणधर्मों का पुञ्ज है, अपितु उसमें परस्पर विरोधी कहे जाने वाले गुणधर्म भी अपेक्षा विशेष से एक साथ उपस्थित रहते हैं।

अस्तित्व नास्तित्व पूर्वक है और नास्तित्व अस्तित्व पूर्वक है। एकता में अनेकता और अनेकता में एकता अनुस्यूत है, जो द्रव्य-दृष्टि से नित्य है, वही पर्यायदृष्टि से अनित्य भी है, उत्पत्ति के बिना विनाश और विनाश के बिना उत्पत्ति संभव नहीं है। पुनः उत्पत्ति और विनाश के लिए ध्रौव्यत्व भी अपेक्षित है अन्यथा उत्पत्ति और विनाश किसका होगा? क्योंकि विश्व में विनाश के अभाव में उत्पत्ति जैसी भी कोई स्थिति नहीं है। यद्यपि ध्रौव्यत्व और उत्पत्ति-विनाश के धर्म परस्पर विरोधी हैं, किन्तु दोनों को सहवर्ती माने बिना विश्व की व्याख्या असम्भव है। यही कारण था कि भगवान् महावीर ने अपने युग में प्रचलित शाश्वतवादी और उच्छेदवादी आदि परस्पर विरोधी विचारधाराओं के मध्य में समन्वय किया। उदाहरणार्थ भगवतीसूत्र में स्वयं भगवान् महावीर से गौतम ने यह पृच्छा कि हे भगवन् ! जीवन नित्य या अनित्य है? तो उन्होंने कहा- हे गौतम! जीव अपेक्षाभेद से नित्य भी और अनित्य भी। भगवन् ! यह कैसे ? हे गौतम ! द्रव्य दृष्टि से जीव नित्य है पर्याय दृष्टि से अनित्य। इसी प्रकार एक अन्य प्रश्न के उत्तर में उन्होंने सोमिल को कहा था कि - हे सोमिल ! द्रव्य-दृष्टि से मैं एक हूँ, किन्तु परिवर्तनशील चेतनाओं (पर्यायों) की अपेक्षा से मैं अनेक भी हूँ (भगवती सूत्र ७.३.२७३)।

वास्तविकता तो यह है कि जिन्हें हम विरोधी धर्म युगल मान लेते हैं, उनमें सर्वथा या निरपेक्ष रूप से विरोध नहीं है। अपेक्षा भेद से उनका एक ही वस्तुतत्त्व में एक ही समय में होना सम्भव है। भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से एक ही व्यक्ति छोटा या बड़ा कहा जा सकता है अथवा एक ही वस्तु ठण्डी या गरम कही जा सकती है। जो संख्या जनसाधारण की दृष्टि में विष (प्राणापहारी) है, वही एक वैद्य की दृष्टि में औषधि (जीवन-संजीवनी) भी है। अतः यह एक अनुभवजन्य सत्य है कि वस्तु में अनेक विरोधी धर्म-युगलों की उपस्थिति देखी जाती है। यहाँ हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि वस्तु में अनेक विरोधी धर्म युगलों को उपस्थिति तो होती है, किन्तु सभी विरोधी धर्म युगलों की उपस्थिति नहीं होती है। इस सम्बन्ध में ध्वला का निम्न कथन द्रष्टव्य है- “यदि (वस्तु में) सम्पूर्ण धर्मों का एक साथ रहना मान लिया जाये तो परस्पर विरुद्ध चैतन्य, अचैतन्य, भव्यत्व और अभव्यत्व आदि धर्मों का एक साथ आत्मा में रहने का प्रसंग आ जायेगा। अतः यह मानना अधिक तर्कसंगत है कि वस्तु में केवल वे ही विरोधी धर्म- युगल युगपत् रूप में रह सकते हैं, जिनका उस वस्तु में अत्यन्ताभाव नहीं है। किन्तु इस बात से वस्तुतत्त्व का अनन्तधर्मात्मक स्वरूप खण्डित नहीं होता है और वस्तुतत्त्व में नित्यता- अनित्यता, एकत्व-अनेकत्व, अस्तित्व-नास्तित्व, भेदत्व-अभेदत्व आदि अनेक विरोधी धर्म युगलों की युगपत् उपस्थित मानी जा सकती है। आचार्य अमृतचन्द्र

‘समयसार’ की टीका में लिखते हैं कि अपेक्षा भेद से जो है, वहीं नहीं भी है, जो सत् है वह असत् भी है, जो एक है वह अनेक भी है, जो नित्य है वही अनित्य भी है-यदेव तत् तदेव अतत् (समयसार टीका)। वस्तु एकान्तिक न होकर अनैकान्तिक है। आचार्य हेमचन्द्र अन्ययोग-व्यवच्छेदिका (५) में लिखते हैं कि विश्व की समस्त वस्तुएं स्याद्वाद की मुद्रा से युक्त हैं, कोई भी उसका उल्लंघन नहीं कर सकता।

यद्यपि वस्तुत्व का यह अनन्तधर्मात्मक एवं अनैकान्तिक स्वरूप हमें असमंजस में अवश्य डाल देता है, किन्तु यदि वस्तु स्वभाव ऐसा ही है, तो हम क्या करें? बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति के शब्दों में ‘यदिदं’ स्वयमर्थेभ्यो रोचते के वयं? पुनः हम जिस वस्तु या द्रव्य की विवेचना करना चाहते हैं, वह है क्या? जहाँ एक ओर द्रव्य को गुण और पर्यायों का आश्रय कहा गया है, वहीं दूसरी ओर उसे गुणों का समूह भी कहा गया है। गुण और पर्यायों से पृथक् द्रव्य की और द्रव्य से पृथक् गुण और पर्यायों की कोई सत्ता नहीं है। यह है वस्तु की सापेक्षिकता और यदि वस्तुतत्त्व सापेक्षिक, अनन्तधर्मात्मक और अनैकान्तिक है, तो फिर उसका ज्ञान एवं उसकी विवेचना निरपेक्ष एवं एकान्तिक दृष्टि से कैसे सम्भव है? इसलिए जैन आचार्यों का कथन है कि (अनन्तधर्मात्मक) मिश्रित तत्त्व की विवेचना बिना अपेक्षा के सम्भव नहीं है (अभिधानराजेन्द्रकोश, खण्ड- ४ पृ० १८३३)।

### मानवीय ज्ञान प्राप्ति के साधनों का स्वरूप:

यह तो हुई वस्तु स्वरूप की बातें, किन्तु जिस वस्तु स्वरूप का ज्ञान हम प्राप्त करना चाहते हैं, उसके लिए हमारे पास साधन क्या है; हमें उन साधनों के स्वरूप एवं उनके द्वारा प्रदत्त ज्ञान के स्वरूप पर भी विचार कर लेना होगा। मनुष्य के पास अपनी सत्याभीप्सा और जिज्ञासा की सन्तुष्टि के लिए ज्ञान-प्राप्ति के दो साधन हैं-

#### १. इन्द्रियाँ और २. तर्कबुद्धि ।

मानव अपने इन्हीं सीमित साधनों द्वारा वस्तुतत्त्व को जानने का प्रयत्न करता है। जहाँ तक मानव के ऐन्द्रिक ज्ञान का प्रश्न है, यह स्पष्ट है कि ऐन्द्रिक ज्ञान न पूर्ण है और न निरपेक्ष। मानव इन्द्रियों की क्षमता सीमित है, अतः वे वस्तुतत्त्व का जो भी स्वरूप जान पाती हैं, वह पूर्ण नहीं हो सकता है। इन्द्रियाँ वस्तु को अपने पूर्ण स्वरूप में देख पाने में सक्षम नहीं हैं। यहाँ हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि हम वस्तुतत्त्व को जिस रूप में वह है वैसा नहीं जान कर, उसे जिस रूप में इन्द्रियाँ हमारे समक्ष प्रस्तुत करती हैं, उसी रूप में जानते हैं। हम इन्द्रिय संवेदना को जान पाते हैं, वस्तुतत्त्व को नहीं। इसका अर्थ यह हुआ कि हमारा आनुभविक ज्ञान इन्द्रिय-सापेक्ष है। मात्र इतना ही नहीं, वह इन्द्रिय सापेक्ष होने के साथ-साथ उन कोणों पर भी निर्भर रहता है जहाँ से वस्तु

देखी जा रही है और यदि हम उस कोण (स्थिति) के विचार को अपने ज्ञान से अलग करते हैं, तो निश्चित ही हमारा ज्ञान भ्रान्त हो जायेगा। उदाहरणार्थ एक गोल सिक्का अपने अनेक कोणों से हमें वृत्ताकार न लगकर अण्डाकार दिखाई देता है। विभिन्न गुरुत्वाकर्षणों एवं विभिन्न शारीरिक स्थितियों से एक ही वस्तु हल्की या भारी प्रतीत होती है। हमारी पृथ्वी को जब हम उसके गुरुत्वाकर्षण की सीमा से ऊपर जाकर देखते हैं तो गतिशील दिखाई देती है, किन्तु यहाँ वह हमें स्थिर प्रतीत होती है। दूर से देखने पर वस्तु छोटी और पास से देखने पर बड़ी दिखाई देती है। एक टेबल के जब विविध कोणों से फोटो लिए जाते हैं तो वे परस्पर भिन्न-भिन्न होते हैं। इस प्रकार हमारा सारा अनुभवीक ज्ञान सापेक्ष ही होता है, निरपेक्ष नहीं। इन्द्रिय संवेदनों को उन सब अपेक्षाओं (Conditions) से अलग हटकर नहीं समझा जा सकता है, जिनमें कि वे हुए हैं। अतः ऐन्द्रिकज्ञान दिक् काल और व्यक्ति सापेक्ष ही होता है।

किन्तु मानव मन कभी भी इन्द्रियानुभूति या प्रतीति के ज्ञान को ही अन्तिम सत्य मानकर सन्तुष्ट नहीं होता, वह उस प्रतीति के पीछे भी ज्ञांकना चाहता है। इस हेतु वह अपनी तर्कबुद्धि का सहारा लेता है। किन्तु क्या तार्किक ज्ञान निरपेक्ष हो सकता है? प्रथम तो तार्किक ज्ञान भी पूरी तरह से इन्द्रिय संवेदना से निरपेक्ष नहीं होता है, दूसरे तार्किक ज्ञान वस्तुतः एक सम्बन्धात्मक ज्ञान है। बौद्धिक चिन्तन कारण-कार्य, एक-अनेक, अस्ति-नास्ति आदि विचार विधाओं से घिरा हुआ है और अपनी इन विधाओं के आधार पर वह सोपक्ष ही होगा। तर्कबुद्धि जब भी किसी वस्तु के स्वरूप का निश्चय कर कोई निर्णय प्रस्तुत करती है, तो वह हमें दो तथ्यों के बीच किसी सम्बन्ध या असम्बन्ध की ही सूचना प्रदान करती है और ऐसा सम्बन्धात्मक ज्ञान सम्बन्ध सापेक्ष ही होगा, निरपेक्ष नहीं। क्योंकि सभी सम्बन्ध (Relations) सापेक्ष होते हैं।

### मानवीय ज्ञान की सीमितता एवं सापेक्षता:

वस्तुतः वस्तुतत्त्व का यथार्थ एवं पूर्ण ज्ञान सीमित क्षमता वाले मानव के लिए सदैव ही एक जटिल प्रश्न रहा है। अपूर्ण के द्वारा पूर्ण को जानने के समस्त प्रयास आंशिक सत्य के ज्ञान से आगे नहीं जा पाये हैं और जब इस आंशिक सत्य को पूर्ण सत्य मान लिया जाता है तो वह सत्य, सत्य न रह करके असत्य बन जाता है। वस्तुतत्त्व न केवल उतना ही है जितना कि हम इसे जान पा रहे हैं बल्कि वह इससे इतर भी है। मनुष्य की ऐन्द्रिक ज्ञान क्षमता एवं तर्क बुद्धि इतनी अपूर्ण है कि वह सम्पूर्ण सत्य को एक साथ ग्रहण नहीं कर सकती। अतः साधारण मानव पूर्ण सत्य का साक्षात्कार नहीं कर पाता है। जैन दृष्टि के अनुसार सत्य अज्ञेय तो नहीं है किन्तु बिना पूर्णता को प्राप्त किये उसे पूर्ण रूप से नहीं जाना जा सकता। प्रसिद्ध वैज्ञानिक अल्बर्ट आइन्स्टीन ने कहा था कि



‘हम केवल सापेक्षिक सत्य को जान सकते हैं, निरपेक्ष सत्य को तो कोई पूर्ण द्रष्टा ही जान सकेगा। (Cosmology Old and New P. XIII) और ऐसी स्थिति में जबकि हमारा समस्त ज्ञान आंशिक, अपूर्ण तथा सापेक्षिक है, हमें यह दावा करने का कोई अधिकार नहीं है कि मेरी दृष्टि ही एक मात्र सत्य है और सत्य मेरे ही पास है। हमारा आंशिक, अपूर्ण और सापेक्षिक ज्ञान निरपेक्ष सत्यता का दावा नहीं कर सकता है। अतः ऐसे ज्ञान के लिए हमें ऐसी कथन पद्धति की योजना करनी होगी, जो कि दूसरों के अनुभूत सत्यों का निषेध नहीं करते हुए अपनी बात कह सके। हम अपने ज्ञान की सीमितता के कारण अन्य सम्भावनाओं (Possibilities) को निरस्त नहीं कर सकते हैं।

### क्या सर्वज्ञ का ज्ञान निरपेक्ष होता है?

यद्यपि जैन दर्शन में यह माना गया है कि सर्वज्ञ या केवली सम्पूर्ण सत्य का साक्षात्कार कर लेता है, अतः यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि क्या सर्वज्ञ का ज्ञान निरपेक्ष है। इस सन्दर्भ में जैन दार्शनिकों में भी मतभेद पाया जाता है। कुछ समकालीन जैन विचारक सर्वज्ञ के ज्ञान को निरपेक्ष मानते हैं जब कि दूसरे कुछ विचारकों के अनुसार सर्वज्ञ का ज्ञान भी सापेक्ष होता है। पं० दलसुखभाई मालवणिया ने “स्याद्वादमंजरी” की भूमिका में सर्वज्ञ के ज्ञान को निरपेक्ष सत्य बताया है। जबकि मुनि श्री नगराजजी ने “जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान” नामक पुस्तिका में यह माना है कि सर्वज्ञ का ज्ञान भी कहने भर को ही निरपेक्ष है क्योंकि स्यादस्ति, स्यान्नास्ति से परे वह भी नहीं है। किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि जहाँ तक सर्वज्ञ के वस्तु जगत् के ज्ञान का प्रश्न है उसे निरपेक्ष नहीं माना जा सकता क्योंकि उसके ज्ञान का विषय अनन्त धर्मात्मक वस्तु है। अतः सर्वज्ञ भी वस्तुतत्त्व के अनन्त गुणों को अनन्त अपेक्षाओं से ही जान सकता है। वस्तुगत ज्ञान या वैषयिक ज्ञान (Objective Knowledge) कभी भी निरपेक्ष नहीं हो सकता, फिर चाहे वह सर्वज्ञ का ही क्यों न हो ? इसीलिए जैन आचार्यों का कथन है कि दीप से लेकर व्योम तक वस्तु-मात्र स्याद्वाद की मुद्रा से अंकित है। किन्तु हमें यह ध्यान रखना होगा कि जहाँ तक सर्वज्ञ के आत्म-बोध का प्रश्न है वह निरपेक्ष हो सकता है क्योंकि वह विकल्प रहित होता है। सम्भवतः इसी दृष्टिकोण को लक्ष्य में रखकर आचार्य कुन्दकुन्द को यह कहना पड़ा था कि व्यवहार दृष्टि से सर्वज्ञ सभी द्रव्यों को जानता है किन्तु परमार्थतः तो वह आत्मा को ही जानता है। सर्वज्ञ का आत्म-बोध तो निरपेक्ष होता है किन्तु उसका वस्तु-विषयक ज्ञान सापेक्ष होता है।

### भाषा की अभिव्यक्ति-सामर्थ्य की सीमितता और सापेक्षता:

सर्वज्ञ या पूर्ण के लिए भी, जो सम्पूर्ण सत्य का साक्षात्कार कर लेता है, सत्य का निरपेक्ष कथन या अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है। सम्पूर्ण सत्य को चाहे जाना जा सकता

हो किन्तु कहा नहीं जा सकता। उसकी अभिव्यक्ति का जब भी कोई प्रयास किया जाता है, तो वह सापेक्षिक बन जाता है। क्योंकि सर्वज्ञ को भी अपनी अभिव्यक्ति के लिए उसी भाषा का सहारा लेना होता है, जो कि सीमित एवं अपूर्ण है। “है” और “नहीं है” की सीमा से घिरी हुई है। अतः भाषा पूर्ण सत्य को निरपेक्षतया अभिव्यक्त नहीं कर सकती है।

प्रथम तो वस्तुतत्त्व के धर्मों की संख्या अनन्त है, जबकि मानवीय भाषा की शब्द संख्या सीमित है। जितने वस्तु-धर्म हैं, उतने शब्द नहीं हैं। अतः अनेक धर्म अनुक्त (अकथित) रहेंगे ही। पुनः मानव की जितनी अनुभूतियाँ हैं, उन सबके लिए भी भाषा में पृथक्-पृथक् शब्द नहीं हैं। हम गुड़, शक्कर, आम आदि की मिठास को भाषा में पूर्ण रूप से अभिव्यक्त नहीं कर सकते क्योंकि सभी की मिठास के लिए अलग-अलग शब्द नहीं हैं। आचार्य नेमिचन्द्र “गोम्मतसार” में लिखते हैं कि हमारे अनुभूत भावों का केवल अनन्तवां भाग ही कथनीय होता है और जितना कथनीय है, उसका भी एक अंश ही भाषा में निबद्ध करके लिखा जाता है (गोम्मतसार-जीवकाण्ड ३३४)। चाहे निरपेक्ष ज्ञान को सम्भव भी मान लिया जाए, किन्तु निरपेक्ष कथन तो कदापि सम्भव नहीं है, क्योंकि जो कुछ भी कहा जाता है, वह किसी न किसी सन्दर्भ में (In a certain context) कहा जाता है और उस सन्दर्भ में ही उसे ठीक प्रकार से समझा जा सकता है अन्यथा भ्रान्ति होने की संभावना रहती है। इसीलिए जैन आचार्यों का कथन है कि जगत् में जो कुछ भी कहा जा सकता है, वह सब किसी विवक्षा या नय से गर्भित होता है। जिन या सर्वज्ञ की वाणी भी अपेक्षा रहित नहीं होती है वह सापेक्ष ही होती है। अतः वक्ता का कथन समझने के लिए भी अपेक्षा का विचार आवश्यक है।

पुनश्च जब वस्तुतत्त्व में अनेक विरुद्ध धर्म-युगल भी रहे हुए हैं, तो शब्दों द्वारा उनका एक साथ प्रतिपादन सम्भव नहीं है। उन्हें क्रमिक रूप में ही कहा जा सकता है। शब्द एक समय में एक ही धर्म को अभिव्यक्त कर सकता है। अनन्तधर्मात्मक वस्तुतत्त्व के समस्त धर्मों का एक साथ कथन भाषा की सीमा के बाहर है। अतः किसी भी कथन में वस्तु के अनेक धर्म अनुक्त (अकथित) ही रह जायेंगे और एक निरपेक्ष कथन अनुक्त धर्मों का निषेध करने के कारण असत्य हो जायेगा। हमारा कथन सत्य रहे और हमारे वचन व्यवहार से श्रोता को कोई भ्रान्ति न हो इसलिए सापेक्षिक कथन पद्धति ही समुचित हो सकती है। जैनाचार्यों ने ‘स्यात्’ को सत्य का चिह्न इसीलिए कहा है कि वह अपेक्षा पूर्वक कथन करके हमारे कथन को अविरोधी और सत्य बना देता है तथा श्रोता को कोई भ्रान्ति भी नहीं होने देता है।

**स्याद्वाद और अनेकान्त :**

साधारणतया अनेकान्त और स्याद्वाद पर्यायवाची माने जाते हैं। अनेक जैनाचार्यों

ने इन्हें पर्यायवाची बताया भी है किन्तु फिर भी दोनों में थोड़ा अन्तर है। अनेकान्त, स्याद्वाद की अपेक्षा अधिक व्यापक अर्थ का द्योतक है। जैनाचार्यों ने दोनों में व्यापक-व्याप्य भाव माना है। अनेकान्तवाद व्यापक है और स्याद्वाद व्याप्य। अनेकान्त वाच्य है तो स्याद्वाद वाचक। अनेकान्त वस्तुस्वरूप है, तो स्याद्वाद उस अनैकान्तिक वस्तु स्वरूप के कथन की निर्दोष भाषा-पद्धति। अनेकान्त दर्शन है, तो स्याद्वाद उसकी अभिव्यक्ति का ढंग।

### विभज्यवाद और स्याद्वाद :

विभज्यवाद स्याद्वाद का ही एक अन्य पर्यायवाची एवं पूर्ववर्ती है। सूत्रकृतांग (१.१.४.२२) में महावीर ने शिष्यों के लिए यह स्पष्ट निर्देश दिया कि वे विभज्यवाद की भाषा का प्रयोग करें। इसी प्रकार भगवान् बुद्ध ने भी मज्झिमनिकाय में स्पष्ट रूप से कहा था कि हे माणवक! मैं विभज्यवादी हूँ एकान्तवादी नहीं। विभज्यवाद वह सिद्धान्त है, जो प्रश्न को विभजित करके उत्तर देता है। जब बुद्ध से यह पूछा गया कि गृहस्थ आराधक होता है या प्रव्रजित? उन्होंने इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा कि गृहस्थ एवं त्यागी यदि मिथ्यावादी हैं तो आराधक नहीं हो सकते। किन्तु यदि दोनों ही सम्यक् आचरण करने वाले हैं तो दोनों ही आराधक हो सकते हैं। (मज्झिम नि०-१९)। इसीप्रकार जब महावीर से जयन्ती ने यह पूछा कि सोना अच्छा है या जागना, तो उन्होंने कहा था कि कुछ जीवों को सोना अच्छा है और कुछ का जागना। पापी का सोना अच्छा है और धर्मात्माओं का जागना। (भगवती सू० १२.२.४४२) इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वक्ता को उसके प्रश्न का विश्लेषणपूर्वक उत्तर देना विभज्यवाद है। प्रश्नों के उत्तरों की यह विश्लेषणात्मक शैली विचारों को सुलझाने वाली तथा वस्तु के अनेक आयामों को स्पष्ट करने वाली है। इससे वक्ता का विश्लेषण एकांगी नहीं बनता है। बुद्ध और महावीर का यह विभज्यवाद ही आगे चलकर शून्यवाद और स्याद्वाद में विकसित हुआ है।

### शून्यवाद और स्याद्वाद :

भगवान् बुद्ध ने शाश्वतवाद और उच्छेदवाद इन दोनों को अस्वीकार किया और अपने मार्ग को मध्यम मार्ग कहा। जबकि भगवान् महावीर ने शाश्वतवाद और उच्छेदवाद को अपेक्षाकृत रूप से स्वीकृत करके एक विधि मार्ग अपनाया। भगवान् बुद्ध की परम्परा में विकसित शून्यवाद और जैन परम्परा में विकसित स्याद्वाद दोनों का ही लक्ष्य एकान्तिक दार्शनिक विचारधाराओं की अस्वीकृति ही था। दोनों में फर्क इतना ही है कि जहां शून्यवाद एक निषेधप्रधान दृष्टि है वहीं स्याद्वाद में एक विधायक दृष्टि है। शून्यवाद जो बात संवृत्ति सत्य और परमार्थ सत्य के रूप में कहता है, वही बात जैन दार्शनिक व्यवहार और निश्चय नय के आधार पर प्रतिपादित करता है। शून्यवाद और स्याद्वाद में मौलिक भेद अपने

निष्कर्षों के सम्बन्ध में है। शून्यवाद अपने निष्कर्षों में निषेधात्मक है और स्याद्वाद विधानात्मक है। शून्यवाद अपनी सम्पूर्ण तार्किक विवेचना में इस निष्कर्ष पर आता है कि वस्तुतत्त्व शाश्वत नहीं है, उच्छिन्न नहीं है, एक नहीं है, अनेक नहीं है, सत् नहीं है, असत् नहीं है। जबकि स्याद्वाद अपने निष्कर्षों को विधानात्मक रूप से प्रस्तुत करता है कि वस्तु शाश्वत भी है और अशाश्वत भी है, एक भी है और अनेक भी है, सत् भी है और असत् भी है। एकान्त में रहा हुआ दोष शून्यवादी और स्याद्वादी दोनों ही देखते हैं। इस एकान्त के दोष से बचने की तत्परता में शून्यवाद द्वारा प्रस्तुत शून्यता-शून्यता की धारणा और स्याद्वाद द्वारा प्रस्तुत अनेकान्त की अनेकान्तता की धारणा भी विशेष रूप से द्रष्टव्य है। किन्तु जहाँ शून्यवादी उस दोष के भय से एकान्त को अस्वीकार करता है, वहीं स्याद्वादी, उसके आगे 'स्यात्' शब्द रखकर उस दूषित एकान्त को निर्दोष बना देता है। दोनों में यदि कोई मौलिक भेद है तो वह अपनी निषेधात्मक और विधानात्मक दृष्टियों का ही है। शून्यवाद का वस्तुतत्त्व जहाँ चतुष्कोटिविनिर्मुक्त शून्य है, वहीं जैन दर्शन का वस्तुतत्त्व अनन्तधर्मात्मक है। किन्तु शून्य और अनन्त का गणित तो समान ही है, वह उस दृष्टि का ही परिणाम है, जो वैचारिक आग्रहों से जनमानस को मुक्त करने के लिए बुद्ध और महावीर ने प्रस्तुत की थी। बुद्ध के निषेधात्मक दृष्टिकोण का परिणाम शून्यवाद था तो महावीर के विधानात्मक दृष्टिकोण का परिणाम स्याद्वाद।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ईसा पूर्व छठी शताब्दी में परम तत्त्व, आत्मा और लोक के स्वरूप एवं सृष्टि के विषय में अनेक मतवाद प्रचलित थे। यद्यपि औपनिषदिक ऋषियों ने इनके समन्वय का प्रयत्न किया था - किन्तु वे एक ऐसी दार्शनिक पद्धति का विकास नहीं कर पाये थे, जो इन मतवादों दार्शनिक एवं व्यावहारिक असंगतियों और कठिनाइयों का निराकरण कर सके। ये परस्पर विरोधी दार्शनिक मत एक दूसरे की आलोचना में पड़े थे और इसके परिणाम स्वरूप आध्यात्मिक विशुद्धि या राग-द्वेष, आसक्ति या तृष्णा से विमुक्ति का प्रश्न गौण था। सभी दार्शनिक मतवाद अपने-अपने आग्रहों में दृढ़ बनते जा रहे थे। अतः सामान्य मनुष्य की दिग्भ्रान्त स्थिति को समाप्त करने और इन परस्पर विरोधी मतवादों के आग्रही घेरों से मानव को मुक्त करने के लिए बुद्ध व महावीर दोनों ने प्रयत्न किया। किन्तु दोनों के प्रयत्नों में महत्त्वपूर्ण अन्तर था। बुद्ध कह रहे थे कि ये सभी दृष्टिकोण एकान्त हैं अतः उनमें से किसी को भी स्वीकार करना उचित नहीं है। किसी भी दृष्टि से न जुड़ कर तृष्णा विमुक्ति के हेतु प्रयास कर दुःख-विमुक्ति को प्राप्त करना ही मानव का एक मात्र लक्ष्य है। बुद्ध की इस निषेधात्मक दृष्टि का परिणाम यह हुआ कि बौद्ध दर्शन में आगे चलकर शून्यवाद का विकास हुआ व सभी दृष्टियों का प्रहाण साधक एक लक्ष्य बना। दूसरी ओर महावीर ने इन विविध दार्शनिक दृष्टियों को नकारने के स्थान पर उनमें निहित सापेक्षिक सत्यता का दर्शन किया और सभी

दृष्टियों को सापेक्ष रूप से अर्थात् विविध नयों के आधार पर सत्य मानने की बात कही। इसी के आधार पर जैन दार्शनिकों ने अनेकान्त, स्याद्वाद और सप्तभंगी का विकास किया। बुद्ध एवं महावीर दोनों का लक्ष्य व्यक्ति के एकान्तिक अवधारणाओं में पड़ने से बचना था। किन्तु इनके इस प्रयास में जहां बुद्ध ने उन एकान्तिक धारणाओं को त्याज्य बताया, वहीं महावीर ने उन्हें सापेक्षिक सत्य कहकर समन्वित किया।

इससे यह तथ्य फलित होता है कि स्याद्वाद एवं शून्यवाद दोनों का मूल उद्गम स्थल एक ही है। विभज्यवादी प्रवृत्ति तक यह धारा एकरूप रही किन्तु अपनी विधायक एवं निषेधक दृष्टियों के परिणाम स्वरूप दो भागों में विभक्त हो गई जिन्हें हम स्याद्वाद व शून्यवाद के रूप में जानते हैं।

इस प्रकार सत्ता के विविध आयामों एवं उसमें निहित सापेक्षिक विरुद्ध धर्मता को देखने का जो प्रयास औपनिषदिक ऋषियों ने किया था वही आगे चलकर श्रमण धारा में स्याद्वाद व शून्यवाद के विकास का आधार बना।

### अन्य दार्शनिक परम्पराएँ और अनेकांतवाद

यह अनेकान्त दृष्टि श्रमण परम्परा के अन्य दार्शनिकों में भी प्रकार भेद से उपलब्ध होती है। संजयवेलट्टिपुत्र का मन्तव्य बौद्ध ग्रन्थों में निम्न रूप से प्राप्त होता है-

(१) है? नहीं कह सकता।

(२) नहीं है? नहीं कह सकता।

(३) है भी और नहीं भी ? नहीं कह सकता।

(४) न है और न नहीं है? नहीं कह सकता।

इससे यह फलित होता है कि संजयवेलट्टिपुत्र भी एकान्तवादी दृष्टि के समर्थक नहीं थे। उनकी उत्तर देने की शैली अनेकान्त दृष्टि की ही परिचायक है। यही कारण था कि राहुल सांकृत्यायन जैसे विचारकों ने यह अनुमान भी किया कि संजयवेलट्टिपुत्र के दर्शन के आधार पर ही जैनों ने स्याद्वाद व सप्तभंगी का विकास किया। किन्तु स्मरण रखना चाहिए कि संजयवेलट्टि की यह दृष्टि निषेधात्मक है। अस्ति, नास्ति एवं अवक्तव्य-सप्तभंगी नय के ये जो तीन मूल नय हैं वे तो उपनिषद् काल से पाये जाते हैं। मात्र यही नहीं उपनिषदों में हमें सत्-असत्, उभय व अनुभय अर्थात् ये चार भंग भी प्रकीर्ण रूप से उपलब्ध होते हैं। औपनिषदिक चिन्तन एवं उसके समानान्तर विकसित श्रमण परम्परा में यह अनेकान्त दृष्टि किसी न किसी रूप में अवश्य उपस्थित रही है किन्तु उसके अभिव्यक्ति की शैली भिन्न है। इस युग के बाद भारतीय चिन्तन के दार्शनिक युग में भी विविध दर्शनों ने इस शैली को अपनाया है।

वस्तुतः वस्तुतत्त्व या परमसत्ता की बहुआयामिता, मानवीय ज्ञान सामर्थ्य, भाषाई-अभिव्यक्ति सामर्थ्य की सीमितता मनुष्य को अनेकान्त दृष्टि अपनाने के लिए प्रेरित करती रही। वस्तु स्वरूप के सबन्ध में एकान्तिक उत्तर मानव मन को संतोष नहीं दे सके। इसका कारण यह था कि मानव अपने ज्ञान के दो साधन-अनूभूति व तर्क में से किसी का भी परित्याग नहीं करना चाहता। अनुभव उसे सत्ता की बहुआयामिता का दर्शन कराता है तो तर्क उसे किसी निश्चित निर्णय की दिशा में प्रेरित करता हुआ एकान्त की ओर ले जाता है। तर्क बुद्धि और अनुभव के इस विरोधाभास के समन्वय के प्रयत्न सभी दार्शनिकों ने किये हैं और इन्हीं प्रयत्नों में उन्हें कहीं न कहीं अनेकान्त दृष्टि का सहारा लेना पड़ा। पतञ्जलि ने महाभाष्य में (व्याडी के) इस दृष्टि का उल्लेख किया है। उनके सामने मुख्य प्रश्न था- शब्द नित्य है या अनित्य है। इस संदर्भ में वे व्याडी के मत को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि गुण दोषों की परीक्षा करके तथा प्रयोजन के आधार पर यह बताया गया है कि शब्द नित्य व अनित्य दोनों है। ज्ञातव्य है कि पतञ्जलि का परमसत्य शब्द ब्रह्म ही है। उसमें नित्यता व अनित्यता दोनों को स्वीकार करके वे अन्य रूप में अनेकान्त दृष्टि का ही प्रतिपादन करते हैं। मात्र यही नहीं जैनदर्शन में जिस रूप में सत् की अनैकान्तिक व्याख्या की गयी है उसी रूप में पतञ्जलि के महाभाष्य में उन्होंने द्रव्य की नित्यता व आकृति की अनित्यता को विस्तार से प्रतिपादित किया है। पुनः उन्होंने यह भी माना है कि आकृति भी सर्वथा अनित्य नहीं है। एक घट के नष्ट होने पर दूसरी घटाकृति तो रहती है। हम यह भी कह सकते हैं कि आकृति चाहे बाह्य रूप में नष्ट हुई हो किन्तु स्रष्टा के चेतना की आकृति तो बनी रहती है। कुम्हार द्वारा बनाया घड़ा टूट जाता है किन्तु कुम्हार के मनस में जो घटाकृति है वह बनी रहती है। महाभाष्यकार ने सत्ता को नित्य मानकर भी उसमें कार्य रूप में उत्पत्ति व विनाश को स्वीकार किया है। यह इस बात का परिचायक है कि पतञ्जलि के दर्शन में सत् की परिणामी नित्यता की अवधारणा उसी रूप में है जिस प्रकार जैनदर्शन में है।

भारतीय दर्शनों में साँख्य दर्शन भी एक प्राचीनतम दर्शन है। साँख्य दर्शन, प्रकृतिपरिणामवादी है। वह पुरुष को कूटस्थनित्य मानता है जबकि प्रकृति को परिवर्तनशील। उसके द्वैतवाद का एक तत्त्व परिवर्तनशील है तो दूसरा अपरिवर्तनशील है। लेकिन यह अवधारणा मूलतः उस पुरुष के संदर्भ में ही घटित होती है जो अपने को प्रकृति से पृथक् जान चुका है। शेष चेतन सत्ताएं जो प्रकृति के साथ अपने ममत्व को बनाए हुई हैं, वे तो किसी न किसी रूप में परिवर्तनशील हैं ही। यही कारण है कि साँख्य अपने सत्कार्यवाद में परिणामवाद को स्वीकार करने को बाध्य हुआ। साँख्य दर्शन के व्यावहारिक या साधनात्मक पक्ष योगदर्शन में भी स्पष्ट रूप से वस्तु की विविध धर्मात्मकता स्वीकार की गयी है, जैसे-एक ही स्त्री अपेक्षा भेद से पत्नी, माता, पुत्री, बहन

आदि कही जाती है। दूसरे शब्दों में एक ही धर्मी अपेक्षा भेद से अनेक धर्म वाला कहा जाता है। द्रव्य की नित्यता व पर्यायों की अनित्यता भी सांख्य एवं योग दर्शन में भी उसी रूप में स्वीकृत है जिस रूप में वह जैन दर्शन में। यह इस तथ्य का सूचक है कि सत्ता की बहुआयामिता के कारण उसकी अनैकान्तिक व्याख्या ही अधिक संतोषप्रद लगती है। सांख्य दर्शन में अनेक ऐसे तत्त्व हैं जो परस्पर विरोधी होते हुए भी एक सत्ता के सदर्थ में स्वीकृत हैं जैसे - सांख्य दर्शन में मन को ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रिय दोनों माना गया। इसी प्रकार उसके २५ तत्त्वों में बुद्धि, अहंकार तथा पाँच तन्मात्राओं को प्रकृति व विकृति दोनों कहा गया है। यद्यपि प्रकृति व विकृति दोनों परस्पर विरुद्ध हैं। इसी प्रकार पुरुष के संदर्भ में भी अपेक्षा भेद से भोक्तृत्व व अभोक्तृत्व दोनों स्वीकृत हैं अथवा प्रकृति में सांसारिक पुरुषों की अपेक्षा से प्रवृत्त्यात्मकता व पुरुष की अपेक्षा से निवृत्त्यात्मकता दोनों ही स्वभाव स्वीकार किए गये हैं।

मीमांसा दर्शन में भी द्रव्य की नित्यता व आकृति की अनित्यता उसी प्रकार स्वीकार की गयी जिस प्रकार वह पातञ्जल दर्शन में स्वीकार की गयी। सर्वप्रथम मीमांसा दर्शन में ज्ञाता, ज्ञेय व ज्ञानरूपता वाले त्रिविध ज्ञान को ज्ञान कहा गया। दूसरे शब्दों में ज्ञान के त्रयात्मक होने पर भी उसे एकात्मक माना। ज्ञान में ज्ञाता स्वयं को; ज्ञान के विषय को और अपने ज्ञान तीनों को जानता है। ज्ञान में यह त्रयात्मकता रही है फिर भी उसे ज्ञान ही कहा जाता है। यह ज्ञान की बहुआयामिता का ही एक रूप है। पुनः मीमांसा दर्शन में कुमारिल ने स्वयं ही सामान्य व विशेष में कथंचित् तादात्म्य एवं कथंचित् भेद धर्म-धर्मी की अपेक्षा से भेदाभेद माना है। मीमांसाश्लोकवार्तिक में वस्तु की उत्पाद, व्यय व ध्रौव्यता को इसी प्रकार प्रतिपादित किया गया है जिस प्रकार से उसे जैन परम्परा में प्रतिपादित किया गया है।

जब स्वर्णकलश को तोड़कर कुण्डल बनाया जाता है तो जिसे कलश की अपेक्षा है उसे दुःख व जिसे कुण्डल की अपेक्षा है उसे सुख होता है किन्तु जिसे स्वर्ण की अपेक्षा है उसे माध्यस्थभाव है। वस्तु की यह त्रयात्मकता जैन व मीमांसा दोनों दर्शनों में स्वीकृत है। चाहे शांकर वेदान्त अपने अद्वैतवाद के परिप्रेक्ष्य में परमसत्ता को अपरिणामी मानता हो किन्तु उसे भी अन्त में परमार्थ और व्यवहार इन दो दृष्टियों को स्वीकार करके परोक्ष रूप से अनेकान्त दृष्टि को स्वीकार करना पड़ा क्योंकि उसके अभाव में इस परिवर्तनशील जगत् की व्याख्या सम्भव नहीं थी। इस प्रकार सभी भारतीय दर्शन किसी न किसी रूप में अनेकांत शैली को स्वीकार करते हैं।

### **जैन परम्परा में अनेकान्तवाद का विकास :**

जैनदर्शन में अनेकान्त दृष्टि की उपस्थिति अति प्राचीन है। जैन साहित्य में

आचारांग अत्यन्त प्राचीन ग्रंथ है। इसमें भी हमें 'जे आसवा ते परिस्सवा, जे परिस्सवा तो आसवा, अर्थात् जो आसव के कारण हैं वे ही निर्जरा के कारण बन जाते हैं और जो निर्जरा के कारण हैं वे आसव के कारण बन जाते हैं—यह कहकर उसी अनेकान्त-दृष्टि का परिचय दिया गया है। आचारांग के बाद स्थानांग में मुनि के लिए विभज्यवाद का आश्रय लेकर ही कोई कथन करने की बात कही गई। यह सुनिश्चित है कि विभज्यवाद स्याद्वाद एवं शून्यवाद का पूर्वज है और वह भी अनेकान्त दृष्टि का परिचायक है। वह यह बताता है कि किसी भी प्रश्न का उत्तर विभिन्न अपेक्षाओं से भिन्न-भिन्न रूप में दिया जा सकता है और वे सभी उत्तर अपेक्षाभेद से सफल हो सकते हैं। भगवतीसूत्र में इस प्रकार के अनेकों प्रश्नोत्तर संकलित हैं। जो विभज्यवाद के आधार पर व्याख्यायित हैं। भगवतीसूत्र में हमें नय दृष्टि का परिचय मिलता है। इसमें द्रव्यार्थिकनय व पर्यायार्थिक नय तथा निश्चयनय व व्यवहारनय का आधार लेकर अनेक कथन किए गए हैं। निश्चय व व्यवहार नय का ही अगला विकास नैगम आदि पांच नयों और फिर सात नयों में हुआ। यद्यपि नयों की यह विवेचना ई० सन् की दूसरी-तीसरी के बाद के ग्रंथों में स्पष्ट रूप से मिलती है, किन्तु इसमें एकरूपता लगभग तीसरी शती के बाद आयी है। आज जो सात नय हैं उनमें उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में एवं भूतबलि और पुष्पदन्त ने षट्खण्डागम में मूल में पांच को ही स्वीकार किया था। सिद्धसेन ने सात में से नैगम को स्वतंत्र नय न मानकर छः नयों की अवधारणा प्रस्तुत की थी। वैसे नयों की संख्या के बारे में सिद्धसेन आदि आचार्यों का दृष्टिकोण अति उदार रहा है। उन्होंने अन्त में यहाँ तक कह दिया कि जितने वचन भेद हो सकते हैं उतने नय हो सकते हैं। कुन्दकुन्द के बाद के दिगम्बर आचार्यों द्वारा प्रतिपादित शुद्धनय व अशुद्धनय को निश्चयनय का ही भेद मानते हुए उन्होंने इसके दो भेदों का उल्लेख किया। बाद में पं० राजमल ने इसमें उपचार को सम्मिलित करके निश्चय व व्यवहार नयों का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया। इस प्रकार नयों के सिद्धांत का विकास हुआ।

जहाँ तक सप्तभंगी का प्रश्न है वह भी एक परवर्ती विकास ही है। यद्यपि सप्तभंगी का आधार महावीर की अनैकान्तिक व समन्वयवादी दृष्टि ही है फिर भी सप्तभंगी का पूर्ण विकास परवर्ती है। भगवतीसूत्र में इन भंगों पर अनेक प्रकार से चिन्तन किया गया है। उसमें मूल नय तो तीन ही रहे हैं—अस्ति, नास्ति व अवक्तव्य किन्तु उनसे अपेक्षा भेद के आधार पर और विविध संयोगों के आधार पर अनेक भंगों की योजना मिलती है। उसमें षड्प्रदेशीय भंगों भी अपेक्षा से तेइस भंगों की योजना भी की गयी है। सर्वप्रथम सिद्धसेन दिवाकर ने सन्मति प्रकरण (प्रथमकाण्ड गाथा ३६) में सांयोगिक भंगों की चर्चा की है। वहाँ सात भंग बनते हैं। सात भंगों का स्पष्ट प्रतिपादन हमें समंतभद्र, कुन्दकुन्द और उनके परवर्ती श्वेताम्बर एवं दिगम्बर आचार्यों में मिलने लगता है। यह स्पष्ट



है कि सप्तभंगी का सुव्यवस्थित रूप में दार्शनिक प्रतिपादन लगभग ५ वीं शती के बाद ही हुआ है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि उसके पूर्व भंगों की अवधारणा नहीं थी। भंगों की अवधारणा तो इसके भी पूर्व में हमें मिलती है किन्तु सप्तभंगी की एक सुव्यवस्थित योजना ५ वीं शती के बाद अस्तित्व में आयी। स्याद्वाद एवं सप्तभंगी, अनेकान्तवाद की भाषायी अभिव्यक्ति के प्रारूप हैं।

## अनेकांतवाद का सैद्धान्तिक पक्ष : स्याद्वाद

### स्याद्वाद का अर्थ-विश्लेषण :

स्याद्वाद शब्द 'स्यात्' और 'वाद' अन दो शब्दों से निष्पन्न हुआ है। अतः स्याद्वाद को समझने के लिए इन दोनों शब्दों का अर्थ विश्लेषण आवश्यक है। स्यात् शब्द के अर्थ के सन्दर्भ में जितनी भ्रान्ति दार्शनिकों में रही है, सम्भवतः उतनी अन्य किसी शब्द के सम्बन्ध में नहीं। विद्वानों द्वारा हिन्दी भाषा में स्यात् का अर्थ "शायद", "सम्भवतः", "कदाचित्" और अंग्रेजी भाषा में probable, may be, perhaps, some how आदि किया गया है और इन्हीं अर्थों के आधार पर उसे संशयवाद, सम्भावनावाद या अनिश्चयवाद समझने की भूल की जाती रही है। यह सही है कि किन्हीं संदर्भों में स्यात् शब्द का अर्थ कदाचित्, शायद, सम्भव आदि भी होता है। किन्तु इस आधार पर स्याद्वाद को संशयवाद या अनिश्चयवाद मान लेना एक भ्रान्ति ही होगी। हमें यहाँ इस बात को भी स्पष्ट रूप से ध्यान में रखना चाहिए कि प्रथम तो एक ही शब्द के अनेक अर्थ हो सकते हैं, दूसरे अनेक बार शब्दों का प्रयोग उनके प्रचलित अर्थ में न होकर विशिष्ट अर्थ में होता है, जैसे जैन परम्परा में धर्म शब्द का प्रयोग धर्म-द्रव्य के रूप में भी होता है। जैन आचार्यों ने स्यात् शब्द का प्रयोग एक विशिष्ट पारिभाषिक अर्थ में ही किया है। यदि स्याद्वाद के आलोचक विद्वानों ने स्याद्वाद सम्बन्धी किसी भी मूलग्रन्थ को देखने की कोशिश की होती, तो उन्हें स्यात् शब्द का जैन परम्परा में क्या अर्थ है, यह स्पष्ट हो जाता। स्यात् शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में जो भ्रान्ति उत्पन्न होती है, उसका मूल कारण उसे तिङन्त पद मान लेना है, जबकि समन्तभद्र, विद्यानन्दि, अमृतचन्द्र, मल्लिषेण आदि सभी जैन आचार्यों ने इसे निपात या अव्यय माना है। समन्तभद्र स्यात् शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए आप्तमीमांसा में लिखते हैं कि स्यात् - यह निपात शब्द है, जो अर्थ के साथ संबंधित होने पर वाक्य में अनेकान्तता का द्योतक और विवक्षित अर्थ का एक विशेषण है (आप्तमीमांसा-१०३)। इसी प्रकार पंचास्तिकाय की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र भी स्यात् शब्द के अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि 'स्यात्' एकान्तता का निषेधक, अनेकान्तता का प्रतिपादक तथा कथंचित् अर्थ का द्योतक एक

निपात शब्द है (पंचास्तिकाय टीका) ।

मल्लिषेण ने भी स्याद्वादमंजरी में स्यात् शब्द को अनेकान्तता का द्योतक एक अव्यय माना है। इस प्रकार यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जैन विचारकों की दृष्टि में स्यात् शब्द संशयपरक न होकर अनैकान्तिक किन्तु निश्चयात्मक अर्थ का द्योतक है। मात्र इतना ही नहीं जैन दार्शनिक इस सम्बन्ध में भी सजग थे कि आलोचक या जन साधारण द्वारा स्यात् शब्द का संशयपरक अर्थ ग्रहण किया जा सकता है, इसलिए उन्होंने स्यात् शब्द के साथ “एव” शब्द के प्रयोग की योजना भी की है, जैसे “स्यादस्त्येव घटः” अर्थात् किसी अपेक्षा से यह घड़ा ही है। यह स्पष्ट है कि “एव” शब्द निश्चयात्मकता का द्योतक है। “स्यात्” तथा “एव” शब्दों का एक साथ प्रयोग श्रोता को संशयात्मकता को समाप्त कर उसे सापेक्षिक किन्तु निश्चित ज्ञान प्रदान करता है। वस्तुतः इस प्रयोग में “एव” शब्द “स्यात्” शब्द की अनिश्चितता को समाप्त कर देता है और “स्यात्” शब्द “एव” शब्द की निरपेक्षता एवं एकान्तता को समाप्त कर देता है और इस प्रकार वे दोनों मिलकर कथित वस्तु-धर्म की सीमा नियत करते हुए सापेक्ष किन्तु निश्चित ज्ञान प्रस्तुत करते हैं। अतः स्याद्वाद को संशयवाद या सम्भावनावाद नहीं कहा जा सकता है। “वाद” शब्द का अर्थ कथनविधि है। इस प्रकार स्याद्वाद सापेक्षिक कथन पद्धति या सापेक्षिक निर्णय पद्धति का सूचक है। वह एक ऐसा सिद्धान्त है, जो वस्तुतत्त्व का विविध पहलुओं या विविध आयामों से विश्लेषण करता है और अपने उन विश्लेषित विविध निर्णयों को इस प्रकार की भाषा में प्रस्तुत करता है कि वे अपने पक्ष की स्थापना करते हुए भी वस्तुतत्त्व में निहित अन्य “अनुक्त” अनेकानेक धर्मों एवं सम्भावनाओं (पर्यायों) का निषेध न करें। वस्तुतः स्याद्वाद हमारे निर्णयों एवं तज्जनित कथनों को प्रस्तुत करने का एक निर्दोष एवं अहिंसक तरीका है, अविरोधपूर्वक कथन की एक शैली है। उसका प्रत्येक भंग अनैकान्तिक ढंग से एकान्तिक कथन करता है, जिसमें वक्ता अपनी बात इस ढंग से कहता है कि उसका वह कथन अपने प्रतिपक्षी कथनों का पूर्ण निषेधक न बने। संक्षेप में स्याद्वाद अपने समग्र रूप में अनेकान्त है और प्रत्येक भंग की दृष्टि से सम्यक् एकांत है। सप्तभंगी अनन्तधर्मात्मक वस्तुतत्त्व के संबंध में एक ऐसी कथन-पद्धति या वाक्य योजना है, जो उसमें अनुक्त धर्मों की संभावना का निषेध न करते हुए सापेक्षिक किन्तु निश्चयात्मक ढंग से वस्तुतत्त्व के पूर्ण स्वरूप को अपनी दृष्टि में रखते हुए उसके किसी एक धर्म का मुख्य रूप से प्रतिपादन या निषेध करती है। इसी प्रकार अनेकान्तवाद भी वस्तुतत्त्व के सन्दर्भ में एकाधिक निर्णयों को स्वीकृत करता है। वह कहता है कि एक ही वस्तुतत्त्व के सन्दर्भ में विभिन्न अपेक्षाओं के आधार पर अनेक निर्णय (कथन) दिये जा सकते हैं अर्थात् अनेकान्त वस्तु-स्वरूप के सम्बन्ध में अनेक निर्णयों या निष्कर्षों की सम्भाव्यता का सिद्धांत है। जैनाचार्यों ने अनेकांत को परिभाषित करते हुए लिखा है

कि 'सर्वथैकान्त प्रतिक्लेष लक्षणोऽनेकांतः' अर्थात् अनेकांत मात्र एकांत का निषेध है और वस्तु में निहित परस्पर विरुद्ध धर्मों का प्रकाशक है।

## स्याद्वाद के आधार

सम्भवतः यह प्रश्न उपस्थित किया जा सकता है कि स्याद्वाद या सापेक्षिक कथन पद्धति की क्या आवश्यकता है? स्याद्वाद या सापेक्षिक कथन पद्धति की आवश्यकता के मूलतः चार कारण हैं-

१. वस्तुतत्त्व की अनन्त धर्मात्मकता,
२. मानवीय ज्ञान प्राप्ति के साधनों की सीमितता,
३. मानवीय ज्ञान की अपूर्णता एवं सापेक्षता, तथा
४. भाषा के अभिव्यक्ति सामर्थ्य की सीमितता एवं सापेक्षता ।

## अनेकांतवाद का भाषिक पक्ष : सप्तभंगी

सप्तभंगी स्याद्वाद की भाषायी अभिव्यक्ति के सामान्य विकल्पों को प्रस्तुत करती है। हमारी भाषा विधि-निषेध की सीमाओं से घिरी हुई है। “है” और “नहीं है” हमारे कथनों के दो प्रारूप हैं। किन्तु कभी-कभी हम अपनी बात को स्पष्टतया “है” (विधि) और “नहीं है” (निषेध) की भाषा में प्रस्तुत करने में असमर्थ होते हैं अर्थात् सीमित शब्दावली की यह भाषा हमारी अनुभूति को प्रगट करने में असमर्थ होती है। ऐसी स्थिति में हम एक तीसरे विकल्प “अवाच्य” या अवक्तव्य” का सहारा लेते हैं, अर्थात् शब्दों के माध्यम से “है” और “नहीं है” की भाषायी सीमा में बाँध कर उसे कहा नहीं जा सकता है। इस प्रकार विधि, निषेध और अवक्तव्यता से जो सात प्रकार का वचन विन्यास बनता है, उसे सप्तभंगी कहा जाता है। सप्तभंगी में स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति और स्यात् अवक्तव्य ये तीन असंयोगी मौलिक भंग हैं। शेष चार भंग इन तीनों के संयोग से बनते हैं। उनमें स्यात् अस्ति-नास्ति, स्यात् अस्ति-अवक्तव्य और स्यात् नास्ति-अवक्तव्य ये तीन द्विसंयोगी और अन्तिम स्यात्-अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य, यह त्रिसंयोगी भंग है। निर्णयों की भाषायी अभिव्यक्ति विधि, निषेध और अवक्तव्य, इन तीन ही रूपों में होती है। अतः उससे तीन ही मौलिक भंग बनते हैं और इन तीन मौलिक भंगों में से गणित शास्त्र के संयोग नियम (Law of Combination) के आधार पर सात भंग ही बनते हैं, न कम न अधिक। अष्टसहस्री टीका में आचार्य विद्यानन्दि ने इसीलिए यह कहा है कि जिज्ञासा और संशय और उनके समाधान सप्त प्रकार के ही हो सकते हैं। अतः जैन आचार्यों की सप्तभंगी की यह व्यवस्था निर्मूल नहीं है। वस्तुतत्त्व के अनन्त धर्मों में से प्रत्येक को लेकर एक-एक सप्तभंगी और इस प्रकार अनन्त सप्तभंगियाँ तो बनाई जा सकती हैं। किन्तु अनन्तभंगी नहीं। श्वेताम्बर आगम भगवतीसूत्र में षट्प्रदेशी स्कन्ध के संबंध में जो

२३ भंगों की योजना है, वह वचन भेद कृत संख्याओं के कारण है। उसमें भी मूल भंग सात ही हैं। पंचास्तिकायसार, प्रवचनसार आदि प्राचीन दिगम्बर आगम ग्रन्थों में और शेष परवर्ती साहित्य में सप्तभंग ही मान्य रहे हैं। अतः विद्वानों को इन भ्रमों का निवारण कर लेना चाहिये कि ऐसे संयोगों से सप्तभंगी ही क्यों अनन्त भंगी भी हो सकती है अथवा आगमों में सात भंग नहीं है अथवा सप्तभंगी भी एक परवर्ती विकास है।

सप्तभंगी का प्रत्येक भंग एक सापेक्षिक निर्णय प्रस्तुत करता है। सप्तभंगी में स्यात् अस्ति आदि जो सात भंग हैं, वे कथन के तार्किक आकार (Logical forms) मात्र हैं। उसमें स्यात् शब्द कथन की सापेक्षिकता का सूचक है और अस्ति एवं नास्ति कथन के विधानात्मक (Affirmative) और निषेधात्मक (Negative) होने के सूचक हैं। कुछ जैन विद्वान अस्ति को सत्ता की भावात्मकता का और नास्ति को अभावात्मकता का सूचक मानते हैं। किन्तु यह दृष्टिकोण जैन दर्शन को मान्य नहीं हो सकता- उदाहरण के लिए जैन दर्शन में आत्मा भाव रूप है वह अभाव रूप नहीं हो सकता है। अतः हमें यह स्पष्ट रूप से जान लेना चाहिए कि स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति अपने आप में कोई कथन नहीं हैं, अपितु कथन के तार्किक आकार हैं, वे कथन के प्रारूप हैं। उन प्रारूपों के लिए अपेक्षा तथा उद्देश्य और विधेय पदों का उल्लेख आवश्यक है। जैसे- स्याद् अस्ति भंग का ठोस उदाहरण होगा- द्रव्य की अपेक्षा आत्मा नित्य है। यदि हम इसमें अपेक्षा (द्रव्यता) और विधेय (नित्यता) का उल्लेख नहीं करें और कहें कि स्यात् आत्मा है, तो हमारा कथन भ्रम पूर्ण होगा। अपेक्षा और विधेय पद के उल्लेख के अभाव में सप्तभंगी के आधार पर किये गये कथन अनेक भ्रान्तियों को जन्म देते हैं, जिसका विशेष विवेचन हमने द्वितीय भंग की चर्चा के प्रसंग में किया है।

आधुनिक तर्कशास्त्र की दृष्टि से सप्तभंगी का प्रत्येक भंग एक सापेक्षिक कथन है जिसे एक हेतुफलाश्रित वाक्य के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। सप्तभंगी के प्रसंग में उत्पन्न भ्रान्तियों से बचने के लिए उसे निम्न सांकेतिक रूप में व्यक्त किया जा सकता है।

सप्तभंगी के इस सांकेतिक प्रारूप के निर्माण में हमने चिह्नों का प्रयोग उनके सामने दर्शित अर्थों में किया है:-

चिह्न

अर्थ

○

यदि- तो (हेतुफलाश्रित कथन)

अ

अपेक्षा (दृष्टिकोण)

संयोजन (और)

य	युगपत् (एकसाथ)
∞	अनन्तत्व
~	व्याघातक
उ	उद्देश्य
वि	विधेय

### भंगों के आगमिक रूप    भंगों के सांकेतिक रूप ठोस उदाहरण

१. स्यात् अस्ति	अ <sup>१</sup> ⊃ उ वि है.	यदि द्रव्य की अपेक्षा से विचार करते हैं तो आत्मा नित्य है।
२. स्यात् नास्ति	अ <sup>२</sup> ⊃ अ वि नहीं है.	यदि पर्याय की अपेक्षा से विचार करते हैं तो आत्मा नित्य नहीं है।
३. स्यात् अस्ति नास्ति च	अ <sup>१</sup> ⊃ उ वि है. अ <sup>२</sup> ⊃ उ वि नहीं है.	यदि द्रव्य की अपेक्षा से विचार करते हैं तो आत्मा नित्य है और यदि पर्याय की अपेक्षा से विचार करते हैं तो आत्मा नित्य नहीं है।
४. स्यात् अवक्तव्य	(अ <sup>१</sup> . अ <sup>२</sup> ) <sup>१</sup> ⊃ उ अवक्तव्य है.	यदि द्रव्य और पर्याय दोनों ही अपेक्षा से एक साथ विचार करते हैं तो आत्मा अवक्तव्य है। (क्योंकि दो भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से दो अलग-अलग कथन हो सकते हैं किन्तु एक कथन नहीं हो सकता है।)
५. स्यात् अस्ति च अवक्तव्य च	अ <sup>१</sup> ⊃ उ वि है. (अ <sup>१</sup> . अ <sup>२</sup> ) <sup>१</sup> ⊃ अवक्तव्य है. अथवा अ <sup>१</sup> ⊃ उ वि है.	यदि द्रव्य की अपेक्षा से विचार करते हैं तो आत्मा नित्य है किन्तु यदि आत्मा का द्रव्य, पर्याय दोनों या अनन्त अपेक्षाओं की दृष्टि

	(अ०) $\supset$ उ	से विचार करते हैं तो आत्मा
	अवक्तव्य है।	अवक्तव्य है।
६. स्याद् नास्ति च	अ <sup>१</sup> $\supset$ उ वि नहीं है।	यदि पर्याय की अपेक्षा से
अवक्तव्य च	(अ <sup>१</sup> . अ <sup>२</sup> ) $\supset$ उ	विचार करते हैं तो आत्मा
	अवक्तव्य है।	नित्य नहीं है किन्तु यदि
		अनन्त अपेक्षाओं की दृष्टि
		से विचार करते हैं तो आत्मा
	अथवा	अवक्तव्य है।
	अ <sup>२</sup> $\supset$ उ वि नहीं है।	
	(अ०) $\supset$ उ $\supset$ अवक्तव्य है।	
७. स्याद् अस्ति च,	अ <sup>१</sup> $\supset$ उ वि है।	यदि द्रव्य दृष्टि से विचार
नास्ति च	अ <sup>२</sup> $\supset$ उ वि नहीं है	करते हैं तो आत्मा नित्य है
अवक्तव्य च	(अ <sup>१</sup> ) $\supset$ उ अवक्तव्य है	और यदि पर्याय दृष्टि से
		विचार करते हैं तो आत्मा
	अथवा	नित्य नहीं किन्तु यदि अपनी
	अ <sup>१</sup> $\supset$ उ वि है।	अनन्त अपेक्षाओं की दृष्टि
	अ <sup>२</sup> $\supset$ उ वि नहीं है	से विचार करते हैं तो आत्मा
	(अ <sup>१</sup> . अ <sup>२</sup> ) य उ	अवक्तव्य है।
	अवक्तव्य है।	

सप्तभंगी के प्रस्तुत सांकेतिक रूप में हमने केवल दो अपेक्षाओं का उल्लेख किया है किन्तु जैन विचारकों ने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव ऐसी चार अपेक्षाएं मानी हैं, उसमें भी भाव-अपेक्षा व्यापक है उसमें वस्तु की अवस्थाओं (पर्यायों) एवं गुणों दोनों पर विचार किया जाता है। किन्तु यदि हम प्रत्येक अपेक्षा की संभावनाओं पर विचार करें तो ये अपेक्षाएं भी अनन्त होंगी क्योंकि वस्तुतत्त्व अनन्तधर्मात्मक है। अपेक्षाओं की इन विविध सम्भावनाओं पर विस्तार से विचार किया जा सकता है। किन्तु इस छोटी सी भूमिका में यह सम्भव नहीं है।

इस सप्तभंगी का प्रथम भंग “स्यात् अस्ति” है। यह स्वचतुष्टय को अपेक्षा से वस्तु के भावात्मक धर्म या धर्मों का विधान करता है। जैसे अपने द्रव्य की अपेक्षा से यह घड़ा मिट्टी का है, क्षेत्र की अपेक्षा से इन्दौर नगर में बना हुआ है, काल की अपेक्षा से शिशिर ऋतु का बना हुआ है, भाव अर्थात् वर्तमान पर्याय की अपेक्षा से लाल रंग का है या घटाकार है आदि। इस प्रकार वस्तु के स्व द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव की अपेक्षा

से उसके भावात्मक गुणों का विधान करना यह प्रथम 'अस्ति' नामक भंग का कार्य है। दूसरा स्यात्, "नास्ति" नामक भंग वस्तुतत्त्व के अभावात्मक धर्म या धर्मों की अनुपस्थिति या नास्तित्व की सूचना देता है। वह यह बताता है कि वस्तु में स्व से भिन्न पर-चतुष्टय का अभाव है। जैसे यह घड़ा ताम्बे का नहीं है, भोपाल नगर से बना हुआ नहीं है, ग्रीष्म ऋतु का बना हुआ नहीं है, कृष्ण वर्ण का नहीं है आदि। मात्र इतना ही नहीं यह भंग इस बात को भी स्पष्ट करता है कि यह घड़ा पुस्तक, टेबल, कलम, मनुष्य आदि नहीं है। जहाँ प्रथम भंग यह कहता है कि घड़ा घड़ा ही है, वहाँ दूसरा भंग यह बताता है कि घड़ा, घट इतर अन्य कुछ नहीं है। कहा गया है कि "सर्वमस्ति स्वरूपेण पररूपेण नास्ति च" अर्थात् सभी वस्तुओं की सत्ता स्वरूप से है पररूप से नहीं। यदि वस्तु में अन्य वस्तुओं के गुण धर्मों की सत्ता भी मान ली जायेगी तो फिर वस्तुओं का पारस्परिक भेद ही समाप्त हो जायेगा और वस्तु का स्व-स्वरूप ही नहीं रह जायेगा, अतः वस्तु में पर-चतुष्टय का निषेध करना द्वितीय भंग है। प्रथम भंग बताता है कि वस्तु क्या है, जबकि दूसरा भंग यह बताता है कि वस्तु क्या नहीं है। सामान्यतया इस द्वितीय भंग को 'स्यात् नास्ति घटः' अर्थात् किसी अपेक्षा से घड़ा नहीं है, इस रूप में प्रस्तुत किया जाता है। किन्तु इसके प्रस्तुतीकरण का यह ढंग थोड़ा भ्रान्तिजनक अवश्य है, स्थूल दृष्टि से देखने पर ऐसा लगता है कि प्रथम भंग में घट के अस्तित्व का जो विधान किया गया था, उसी का द्वितीय भंग में निषेध कर दिया गया और ऐसी स्थिति में स्याद्वाद को सन्देहवाद या आत्मा विरोधी कथन करने वाला सिद्धान्त समझ लेने की भ्रान्ति हो जाना स्वाभाविक है। शंकर प्रभृति विद्वानों ने स्याद्वाद की जो आलोचना की थी, उसका मुख्य आधार यही भ्रान्ति है। "स्यात् नास्ति घटः" में जब स्यात् शब्द को दृष्टि से ओझल कर या उसे सम्भावना के अर्थ में ग्रहण कर 'अस्ति' और 'नास्ति' पर बल दिया जाता है तो आत्म-विरोध का आभास होने लगता है। जहाँ तक मैं समझ पाया हूँ स्याद्वाद का प्रतिपादन करने वाले किसी आचार्य की दृष्टि में द्वितीय भंग का कार्य प्रथम भंग में स्थापित किये गये गुणधर्म का उसी अपेक्षा से निषेध करना नहीं है, अपितु या तो प्रथम भंग में अस्ति रूप माने गये गुण धर्म से इतर गुण धर्मों का निषेध करना है अथवा फिर अपेक्षा को बदल कर उसी गुण धर्म का निषेध करना होता है और इस प्रकार द्वितीय भंग प्रथम भंग के कथन को पुष्ट करता है, खण्डित नहीं। यदि द्वितीय भंग के कथन को उसी अपेक्षा से प्रथम भंग का निषेधक या विरोधी मान लिया जायेगा तो निश्चय यह सिद्धान्त संशयवाद या आत्म-विरोध के दोषों से ग्रसित हो जायेगा, किन्तु ऐसा नहीं है। यदि प्रथम भंग में 'स्यादस्त्येव घटः' का अर्थ किसी अपेक्षा से घड़ा है और द्वितीय भंग 'स्याद् नास्त्येव घटः' का अर्थ किसी अपेक्षा से घड़ा नहीं है, ऐसा करेंगे तो आभासी रूप से ऐसा लगेगा कि दोनों कथन विरोधी हैं। क्योंकि इन कथनों के भाषायी स्वरूप से ऐसा

आभास होता है कि इन कथनों में घट के अस्तित्व और नास्तित्व को ही सूचित किया गया है। जबकि जैन आचार्यों की दृष्टि में इन कथनों का बल उनमें प्रयुक्त “स्यात्” शब्द में ही है, वे यह नहीं मानते हैं कि द्वितीय भंग प्रथम भंग में स्थापित सत्य का प्रतिषेध करता है। दोनों भंगों में घट के सम्बन्ध में जिनका विधान या निषेध किया गया है वे अपेक्षाश्रित धर्म हैं न कि घट का स्वयं का अस्तित्व या नास्तित्व। पुनः दोनों भंगों के “अपेक्षाश्रित धर्म” एक नहीं हैं, भिन्न-भिन्न हैं। दूसरे भंग में जिन अपेक्षाश्रित धर्मों का निषेध हुआ है, वे दूसरे अर्थात् पर-चतुष्टय के हैं। अतः प्रथम भंग के विधान और द्वितीय भंग के निषेध में कोई आत्म विरोध नहीं है। मेरी दृष्टि में इस भ्रान्ति का मूल कारण प्रस्तुत वाक्य में उस विधेय पद (Predicate) के स्पष्ट उल्लेख का अभाव है, जिसका कि विधान या निषेध किया जाता है। यदि “नास्ति” पद को विधेय स्थानीय माना जाता है तो पुनः यहाँ यह भी प्रश्न उठ सकता है कि जो घट अस्ति रूप है, वह नास्ति रूप कैसे हो सकता है? यदि यह कहा जाये कि पर द्रव्यादि की अपेक्षा से घट नहीं है, किन्तु पर द्रव्यादि घट के अस्तित्व के निषेधक कैसे बन सकते हैं?

यद्यपि यहाँ पूर्वाचार्यों का मन्तव्य स्पष्ट है कि वे घट का नहीं, अपितु घट में पर द्रव्यादि का भी निषेध करना चाहते हैं। वे कहना यह चाहते हैं कि घट, पट नहीं है या घट में पट आदि के धर्म नहीं हैं, किन्तु स्मरण रखना होगा कि इस कथन में प्रथम और द्वितीय भंग में अपेक्षा नहीं बदली है। यदि प्रथम भंग से यह कहा जाये कि घड़ा मिट्टी का है और दूसरे भंग में यह कहा जाये कि घड़ा पीतल का नहीं है तो दोनों में अपेक्षा एक ही है अर्थात् दोनों कथन द्रव्य की या उपादान की अपेक्षा से हैं। अब दूसरा उदाहरण लें— किसी अपेक्षा से घड़ा नित्य है, किसी अपेक्षा से घड़ा नित्य नहीं है, यहाँ दोनों भंगों में अपेक्षा बदल जाती है। यहाँ प्रथम भंग में द्रव्य की अपेक्षा से घड़े को नित्य कहा गया और दूसरे भंग में पर्याय की अपेक्षा से घड़े को नित्य नहीं कहा गया है। द्वितीय भंग के प्रतिपादन के ये दोनों रूप भिन्न-भिन्न हैं। दूसरे, यह कहना कि परचतुष्टय की अपेक्षा से घट नहीं है या पट की अपेक्षा घट नहीं है, भाषा की दृष्टि से थोड़ा भ्रान्तिजनक अवश्य है क्योंकि परचतुष्टय वस्तु की सत्ता का निषेधक नहीं हो सकता है। वस्तु में परचतुष्टय अर्थात् स्व-भिन्न पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का अभाव तो होता है किन्तु उनकी अपेक्षा वस्तु का अभाव नहीं होता है। क्या यह कहना कि कुर्सी की अपेक्षा टेबल नहीं है या पीतल की अपेक्षा यह घड़ा नहीं है, भाषा के अभ्रान्त प्रयोग है? इस कथन में जैनाचार्यों का आशय तो यही है कि टेबल कुर्सी नहीं या घड़ा पीतल का नहीं है। अतः परचतुष्टय की अपेक्षा से वस्तु नहीं है, यह कहने की अपेक्षा यह कहना कि वस्तु में परचतुष्टय का अभाव है, भाषा का सम्यक् प्रयोग होगा।

विद्वानों से मेरी विनती है कि वे सप्तभंगी के विशेष रूप से द्वितीय एवं तृतीय



भंग के भाषा के स्वरूप पर और स्वयं उनके आकारिक स्वरूप पर पुनर्विचार करें और आधुनिक तर्कशास्त्र के सन्दर्भ में उसे पुनर्गठित करेंगे तो जैन न्याय के क्षेत्र में एक बड़ी उपलब्धि होगी क्योंकि द्वितीय एवं तृतीय भंगों की कथन विधि के विविध रूप परिलक्षित होते हैं। अतः यहाँ द्वितीय भंग के विविध स्वरूपों पर थोड़ा विचार करना अप्रासंगिक नहीं होगा। मेरी दृष्टि में द्वितीय भंग के निम्न चार रूप हो सकते हैं:

### सांकेतिक रूप

(१) प्रथम भंग - अ<sup>१</sup> ⊃ उ वि है  
द्वितीय भंग-अ<sup>२</sup> ⊃ उ नहीं है

(२) प्रथम भंग - अ<sup>१</sup> ⊃ उ वि है  
द्वितीय भंग-अ<sup>२</sup> ⊃ ऊ ~वि है

(३) प्रथम भंग - अ<sup>१</sup> ⊃ उ वि है  
द्वितीय भंग-अ<sup>२</sup> ⊃ उ ~वि नहीं है

### उदाहरण

प्रथम भंग में जिस धर्म (विधेय) का विधान किया गया है। अपेक्षा बदलकर द्वितीय भंग में उसी धर्म (विधेय) का निषेध कर देना। जैसे : **द्रव्यदृष्टि** से घड़ा नित्य है। **पर्यायदृष्टि** से घड़ा नित्य नहीं है।

(२) प्रथम भंग में जिस धर्म का विधान किया गया है, अपेक्षा बदलकर द्वितीय भंग में उसके विरुद्ध धर्म का प्रतिपादन कर देना है। जैसे- **द्रव्यदृष्टि** से घड़ा नित्य है **पर्यायदृष्टि** से घड़ा अनित्य है।

(३) प्रथम भंग में प्रतिपादित धर्म को पुष्ट करने हेतु उसी अपेक्षा से द्वितीय भंग में उसके विरुद्ध धर्म या भिन्न धर्म का वस्तु में निषेध कर देना ।

जैसे - **रंग की दृष्टि** से यह कमीज नीली है।

**रंग की दृष्टि** से यह कमीज पीली नहीं है।

अथवा

अपने स्वरूप की दृष्टि से आत्मा में चेतन है।

अपने स्वरूप की दृष्टि से आत्मा अचेतन नहीं है।

अथवा

उपादान की दृष्टि से यह घड़ा मिट्टी का है।  
उपादान की दृष्टि से यह घड़ा स्वर्ण का नहीं है।

(४) प्रथम भंग - अ<sup>१</sup> ⊃ उ है  
द्वितीय भंग-अ<sup>२</sup> ⊃ उ नहीं है

(४) जब प्रतिपादित कथन देश या काल या दोनों के सम्बन्ध में हो तब देश-काल आदि की अपेक्षा को बदलकर प्रथम भंग में प्रतिपादित कथन का निषेध कर देना।  
जैसे- २७ नवम्बर की अपेक्षा से मैं यहाँ पर हूँ।

२० नवम्बर की अपेक्षा से मैं यहाँ पर नहीं था।

द्वितीय भंग के उपरोक्त चारों रूपों में प्रथम और द्वितीय रूप में बहुत अधिक मौलिक भेद नहीं है। अन्तर इतना ही है कि जहां प्रथम रूप में एक ही धर्म का प्रथम भंग में विधान और दूसरे भंग में निषेध होता है, वहाँ दूसरे रूप में दोनों भंगों में अलग-अलग रूप में दो विरुद्ध धर्मों का विधान होता है। प्रथम रूप की आवश्यकता तब होती है जब वस्तु में एक ही गुण अपेक्षा भेद से कभी उपस्थित रहे और कभी उपस्थित नहीं रहे। इस रूप के लिए वस्तु में दो विरुद्ध धर्मों के युगल का होना जरूरी नहीं है, जबकि दूसरे रूप का प्रस्तुतीकरण केवल उसी स्थिति में सम्भव होता है, जबकि वस्तु में धर्म विरुद्ध युगल हो। तीसरा रूप तब बनता है, जबकि उस वस्तु में प्रतिपादित धर्म के विरुद्ध धर्म की उपस्थिति ही न हो। चतुर्थ रूप की आवश्यकता तब होती है, जब कि हमारे प्रतिपादन में विधेय का स्पष्ट रूप से उल्लेख न हो। द्वितीय भंग के पूर्वोक्त रूपों में प्रथम रूप में अपेक्षा बदलती है, धर्म (विधेय) वही रहता है और क्रियापद निषेधात्मक होता है। द्वितीय रूप में अपेक्षा बदलती है, धर्म (विधेय) के स्थान पर उसका विरुद्ध धर्म (विधेय का व्याघातक पद) होता है, और क्रियापद विधानात्मक होता है। तृतीय रूप से अपेक्षा वही रहती है, धर्म (विधेय) के स्थान पर उसका विरुद्ध या विपरीत पद रखा जाता है और क्रियापद निषेधात्मक होता है तथा अन्तिम चतुर्थ रूप में अपेक्षा बदलती है और प्रतिपादित कथन का निषेध कर दिया जाता है।

सप्तभंगी का तीसरा मौलिक भंग अवक्तव्य है अतः यह विचारणीय है कि इस भंग की योजना का उद्देश्य क्या है? सामान्यतया यह माना जाता है कि वस्तु में एक ही समय में रहते हुए सत्-असत्, नित्य-अनित्य आदि विरुद्ध धर्मों का युगपत् अर्थात्

एक साथ प्रतिपादन करने वाला कोई शब्द नहीं है। अतः विरुद्ध धर्मों की एक साथ अभिव्यक्ति की शाब्दिक असमर्थता के कारण अवक्तव्य भंग की योजना की गई है, किन्तु अवक्तव्य का यह अर्थ उसका एकमात्र अर्थ नहीं है। यदि हम अवक्तव्य शब्द पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करते हैं तो उसके अर्थ में एक विकास देखा जाता है। डॉ० पद्मराजे ने अवक्तव्य के अर्थ के विकास की दृष्टि से चार अवस्थाओं का निर्देश किया है-

- (१) पहला वेदकालीन निषेधात्मक दृष्टिकोण, जिसमें विश्व कारण की खोज करते हुए ऋषि उस कारण तत्त्व को न सत् और न असत् कहकर विवेचित करता है, यहाँ दोनों पक्षों का निषेध है।
- (२) दूसरा औपनिषदिक विधानात्मक दृष्टिकोण, जिसमें सत्, असत् आदि विरोधी तत्त्वों में समन्वय देखा जाता है, जैसे “तदेजति तन्नेजति” “अणोरणीयान् महतो महीयान्” आदि। यहाँ दोनों पक्षों की स्वीकृति है।
- (३) तीसरा दृष्टिकोण जिसमें तत्त्व को स्वरूपतः अव्यपदेश्य या अनिर्वचनीय माना गया है, यह दृष्टिकोण भी उपनिषदों में ही मिलता है उसे “यतो वाचो निर्वर्तन्ते”, यद्वाचानभ्युदितं, नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्याः आदि। बुद्ध के अव्याकृतवाद एवं शून्यवाद की चतुष्कोटि विनिर्मुक्त तत्त्व की धारणा में भी बहुत कुछ इसी दृष्टिकोण का प्रभाव देखा जा सकता है।
- (४) चौथा दृष्टिकोण जैन न्याय में सापेक्षिक अवक्तव्यता या सापेक्षिक अनिर्वचनीयता के रूप में विकसित हुआ है।

सामान्यतया अवक्तव्य के निम्न अर्थ हो सकते हैं -

- (१) सत् व असत् दोनों का निषेध करना।
- (२) सत्, असत् और सदसत् तीनों का निषेध करना।
- (३) सत् -असत्, सत-असत् (उभय) और न सत् न असत् (अनुभय) चारों का निषेध करना।
- (४) वस्तुतत्त्व को स्वभाव से ही अवक्तव्य मानना, अर्थात् यह कि वस्तुतत्त्व अनुभव में तो आ सकता है किन्तु कहा नहीं जा सकता।
- (५) सत् और असत् दोनों को युगपत् रूप से स्वीकार करना, किन्तु उसके युगपत्कथन के लिए कोई शब्द न होने के कारण अवक्तव्य कहना।
- (६) वस्तुतत्त्व अनन्तधर्मात्मक है अर्थात् वस्तुतत्त्व के धर्मों की संख्या अनन्त है किन्तु शब्दों की संख्या सीमित है और इसलिए उसमें जितने धर्म हैं, उतने वाचक

शब्द नहीं हैं अतः वाचक शब्दों के अभाव के कारण उसे अंशतः वाच्य और अंशतः अवाच्य मानना।

यहाँ यह प्रश्न विचारणीय हो सकता है कि जैन विचार परम्परा में इस अवक्तव्यता के कौन से अर्थ मान्य रहे हैं। सामान्यतया जैन परम्परा में अवक्तव्यता के प्रथम तीनों निषेधात्मक अर्थ मान्य नहीं रहे हैं। उसका मान्य अर्थ यही है कि सत् और असत् दोनों का युगपत् विवेचन नहीं किया जा सकता है इसलिए वस्तुतत्त्व अवक्तव्य है, किन्तु यदि हम प्राचीन जैन आगमों को देखें तो अवक्तव्यता का यह अर्थ अन्तिम नहीं कहा जा सकता। आचारांगसूत्र (१-५-१७१) में आत्मा के स्वरूप को जिस रूप में वचनागोचर कहा गया है वह विचारणीय है। वहाँ कहा गया है कि “आत्मा ध्वन्यात्मक किसी भी शब्द की प्रवृत्ति का विषय नहीं है। वाणी उसका निर्वचन करने में कथमपि समर्थ नहीं है। वहाँ वाणी मूक हो जाती है, तर्क की वहाँ तक पहुँच नहीं है, बुद्धि (मति) उसे ग्रहण करने में असमर्थ है अर्थात् वह वाणी, विचार और बुद्धि का विषय नहीं है। किसी उपमा के द्वारा भी उसे नहीं समझाया जा सकता है क्योंकि उसे कोई उपमा नहीं दी जा सकती, वह अनुपम है, अरूपी सत्तावान है। उस अपद का कोई पद नहीं है अर्थात् ऐसा कोई शब्द नहीं है जिसके द्वारा उसका निरूपण किया जा सके।” इसे देखते हुए यह मानना पड़ेगा कि वस्तुस्वरूप ही कुछ ऐसा है कि उसे वाणी का माध्यम नहीं बनाया जा सकता है। पुनः वस्तुतत्त्व की अनन्तधर्मात्मकता और शब्दसंख्या की सीमितता के आधार पर भी वस्तुतत्त्व को अवक्तव्य माना गया है। आचार्य नेमिचन्द्र ने गोम्मतसार में अनभिलाष्य भाव का उल्लेख किया है। वे लिखते हैं कि अनुभव में आये अवक्तव्य भावों का अनन्तवाँ भाग ही कथन किया जाने योग्य है (गोम्मतसार, जीव० ३३४)। अतः यह मान लेना उचित नहीं है कि जैन परम्परा में अवक्तव्यता का केवल एक ही अर्थ मान्य है।

इस प्रकार जैन दर्शन में अवक्तव्यता के चौथे, पाँचवें और छठें अर्थ मान्य रहे हैं। फिर भी हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि सापेक्ष अवक्तव्यता और निरपेक्ष अवक्तव्यता में जैन दृष्टि सापेक्ष अवक्तव्यता को स्वीकार करती है, निरपेक्ष को नहीं। वह यह मानती है कि वस्तुतत्त्व पूर्णतया वक्तव्य तो नहीं है किन्तु वह पूर्णतया अवक्तव्य भी नहीं है। यदि हम वस्तुतत्त्व को पूर्णतया अवक्तव्य अर्थात् अनिर्वचनीय मान लें तो फिर भाषा एवं विचारों के आदान-प्रदान का कोई अर्थ ही नहीं रह जायेगा। अतः जैन दृष्टिकोण वस्तुतत्त्व की अनिर्वचनीयता को स्वीकार करते हुए भी यह मानता है कि सापेक्ष रूप से वह निर्वचनीय भी है। सत्ता अंशतः निर्वचनीय है और अंशतः अनिर्वचनीय, क्योंकि यही बात उसके सापेक्षवादी दृष्टिकोण और स्याद्वाद सिद्धान्त के अनुकूल है। इस प्रकार पूर्व निर्दिष्ट पाँच अर्थों में से पहले दो को छोड़कर अन्तिम तीनों को मानने में उसे कोई बाधा नहीं आती है। मेरी दृष्टि में अवक्तव्य भंग का भी एक ही रूप नहीं है, प्रथम तो

“है” और “नहीं” है। ऐसे विधि-प्रतिषेध का युगपद् ( एक ही साथ) प्रतिपादन सम्भव नहीं है, अतः अवक्तव्य भंग की योजना है। दूसरे निरपेक्ष रूप से वस्तुतत्त्व का कथन सम्भव नहीं है, अतः वस्तुतत्त्व अवक्तव्य है। तीसरे अपेक्षाएँ अनन्त हो सकती हैं। किन्तु अनन्त अपेक्षाओं से युगपद् रूप में वस्तुतत्त्व का प्रतिपादन संभव नहीं है इसलिए भी उसे अवक्तव्य मानना होगा। इसके निम्न तीन प्रारूप हैं-

१. (अ<sup>१</sup>. अ<sup>२</sup>)<sup>१</sup>  $\supset$  उ अवक्तव्य है,

२.  $\sim$  अ  $\supset$  उ अवक्तव्य है,

३. (अ  $\infty$ )<sup>१</sup>  $\supset$  उ अवक्तव्य है ।

सप्तभंगी के शेष चारों भंग सांयोगिक हैं। विचार की स्पष्ट अभिव्यक्ति की दृष्टि से इनका महत्त्व तो अवश्य है किन्तु इनका अपना कोई स्वतन्त्र दृष्टिकोण नहीं है, ये अपने संयोगी मूलभंगों की अपेक्षा को दृष्टिगत रखते हुए ही वस्तुस्वरूप का स्पष्टीकरण करते हैं। अतः इन पर यहाँ विस्तृत विचार अपेक्षित नहीं है।

### सप्तभंगी और त्रिमूल्यात्मक तर्कशास्त्र :

वर्तमान युग में पाश्चात्य तर्कशास्त्र के विचारकों में ल्युसाइविक ने एक नयी दृष्टि दी है, उसके अनुसार तार्किक निर्णयों में केवल सत्य, असत्य ऐसे दो मूल्य ही नहीं होते, अपितु सत्य, असत्य और सम्भावित सत्य ऐसे तीन मूल्य होते हैं। इसी संदर्भ में डॉ० एस० एस० बारलिंगे ने जैन न्याय को त्रिमूल्यात्मक सिद्ध करने का प्रयास जयपुर की एक गोष्ठी में किया था। जहाँ तक जैनन्याय या स्याद्वाद के सिद्धांत का प्रश्न है उसे त्रिमूल्यात्मक माना जा सकता है क्योंकि जैन न्याय में प्रमाण, सुनय और दुर्नय ऐसे तीन क्षेत्र माने गये हैं, इसमें प्रमाण सुनिश्चित सत्य, सुनय सम्भावित सत्य और दुर्नय असत्यता के परिचायक हैं। पुनः जैन दार्शनिकों ने प्रमाणवाक्य और नयवाक्य ऐसे दो प्रकार के वाक्य मानकर प्रमाणवाक्य को सकलादेश (सुनिश्चित सत्य या पूर्ण सत्य) और नयवाक्य को विकलादेश (सम्भावित सत्य या आंशिक सत्य) कहा है। नयवाक्य को न सत्य कहा जा सकता है और न असत्य। अतः सत्य और असत्य के मध्य एक तीसरी कोटि आंशिक सत्य या सम्भावित सत्य मानी जा सकती है। पुनः वस्तुतत्त्व की अनन्त धर्मात्मकता अन्य सम्भावनाओं को निरस्त नहीं करती है और स्याद्वाद उस कथित सत्यता के अतिरिक्त अन्य सम्भावित सत्यताओं को स्वीकार करता है।

इस प्रकार जैन दर्शन की वस्तुतत्त्व की अनन्तधर्मात्मकता तथा प्रमाण, नय और दुर्नय की धारणाओं के आधार पर स्याद्वाद सिद्धांत त्रिमूल्यात्मक तर्कशास्त्र (Three valued logic) या बहुमूल्यात्मक तर्कशास्त्र (Many valued logic) का समर्थक

माना जा सकता है किन्तु जहां तक सप्तभंगी का प्रश्न है उसे त्रिमूल्यात्मक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसमें नास्ति नामक भंग एवं अवक्तव्य नामक भंग क्रमशः असत्य एवं अनियतता (Indeterminate) के सूचक नहीं हैं। सप्तभंगी का प्रत्येक भंग सत्य-मूल्य का सूचक है यद्यपि जैन विचारकों ने प्रमाण-सप्तभंगी और नय-सप्तभंगी के रूप में सप्तभंगी के जो दो रूप माने हैं, उसके आधार पर यहाँ कहा जा सकता है कि प्रमाण-सप्तभंगी के सभी भंग सुनिश्चित सत्यता और नय सप्तभंगी के सभी भंग सम्भावित या आंशिक सत्यता का प्रतिपादन करते हैं। असत्य का सूचक तो केवल दुर्नय ही है। अतः सप्तभंगी त्रिमूल्यात्मक नहीं है। यह तो अनेकांत के सैद्धान्तिक पक्ष की चर्चा हुई, अब हम उसके व्यावहारिक पक्ष की चर्चा करेंगे।

## ( II )

### अनेकान्तवाद का व्यावहारिक पक्ष

अनेकान्त का व्यावहारिक जीवन में क्या मूल्य और महत्त्व है, इसका यदि ऐतिहासिक दृष्टि से अध्ययन करें तो हमें सर्वप्रथम उसका उपयोग विवाद पराडुम्बता के साथ-साथ परपक्ष की अनावश्यक आलोचना व स्वपक्ष की अतिरेक प्रशंसा से बचना है। इस प्रकार का निर्देश हमें सर्वप्रथम सूत्रकृतांग (१/१/२/२३) में मिलता है। जहाँ यह कहा गया है कि जो अपने पक्ष की प्रशंसा और पर पक्ष की निन्दा में रत हैं, वे दूसरों के प्रति द्वेष वृत्ति का विकास करते हैं, परिणाम स्वरूप संसार में भ्रमण करते हैं। साथ ही महावीर चाहते थे कि इस अनेकान्त शैली के माध्यम से कथ्य का सम्यक् रूप से स्पष्टीकरण हो और इस तरह का प्रयास उन्होंने भगवतीसूत्र में अनैकान्तिक उत्तरों के माध्यम से किया है। जैसे जब उनसे पूछा गया कि सोना अच्छा है या जागना तो उन्होंने कहा कि पापियों का सोना व धार्मिकों का जागना अच्छा है। जैन दार्शनिकों में इस अनेकान्तदृष्टि का व्यावहारिक प्रयोग सर्वप्रथम सिद्धसेन दिवाकर ने किया। उन्होंने उद्धोष किया कि संसार के एकमात्र गुरु उस अनेकान्तवाद को नमस्कार है जिससे बिना संसार का व्यवहार ही असम्भव है। परमतत्त्व या परमार्थ की बात बहुत की जा सकती है किन्तु वह मनुष्य जो इस संसार में रहता है उसके लिए परमार्थ सत्य की बात करना उतनी सार्थक नहीं है जितनी व्यवहार जगत् की और व्यवहार का क्षेत्र एक ऐसा क्षेत्र है जहाँ अनेकांत दृष्टि के बिना काम नहीं चलता है। परिवार के एक ही स्त्री को कोई पत्नी कहता है, कोई पुत्रबधू कहता है, कोई मां कहता है तो कोई दादी, कोई बहन कहता है तो कोई चाची, नानी आदि नामों से पुकारता है। एक व्यक्ति के सन्दर्भ में विभिन्न पारिवारिक संबंधों की इस संभावना से इंकार नहीं किया जा सकता है। आर्थिक क्षेत्र में भी अनेक ऐसे प्रश्न हैं जो किसी एक तात्त्विक एकान्तवादी अवधारणा के आधार पर नहीं सुलझाए जा सकते हैं। उदाहरण के रूप में यदि हम एकान्तरूप से व्यक्ति को परिवर्तनशील मानते हैं तो

आधुनिक शिक्षा प्रणाली में परीक्षा, प्रमाणपत्र व उसके आधार पर मिलने वाली नौकरी आदि में एकरूपता नहीं होगी। यदि व्यक्ति परिवर्तनशील है, क्षण-क्षण बदलता ही रहता है तो अध्ययन करने वाला छात्र भिन्न होगा और जिसे प्रमाण पत्र मिलेगा वह परीक्षा देने वाले से भिन्न होगा और उन प्रमाण पत्रों के आधार पर जिसे नौकरी मिलेगी व उनसे पृथक् होगा। इस प्रकार व्यवहार के क्षेत्र में असंगतियां होंगी, यदि इसके विरुद्ध हम यह मानें कि व्यक्तित्व में परिवर्तन ही नहीं होता तो उसके प्रशिक्षण की व्यवस्था निरर्थक होगी। इस प्रकार अनेकान्त दृष्टि का मूल आधार व्यवहार की समस्याओं का निराकरण करना है। प्राचीन आगमों में इसका उपयोग विवादों और आग्रहों से बचने तथा कथनों को स्पष्ट करने के लिए ही किया गया है। सर्वप्रथम आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने इस अनेकान्त दृष्टि का प्रयोग दार्शनिक विरोधों के समन्वय की दिशा में किया। उन्होंने एक ओर परस्पर विरोधी एकान्तिक मान्यताओं में दोषों की उद्घाटना करके बताया कि कोई भी एकान्तिक मान्यता न तो व्यावहारिक है न ही सत्ता का सम्यक् एवं सत्य स्वरूप ही प्रस्तुत करती है। किन्तु उनकी विशेषता यह है कि वे केवल दोषों की उद्घाटना करके ही सीमित नहीं रहे अपितु उन्होंने उन परस्पर विरोधी धारणाओं में निहित सत्यता का भी दर्शन किया और सत्य के समग्र स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए उन्हें समन्वित करने का भी प्रयत्न किया। जहाँ उनके पूर्व तक दूसरे दर्शनों को मिथ्या कहकर उनका माखौल उड़ाया जाता था, वहीं उन्होंने विभिन्न नयों के आधार पर उनकी सत्यता को स्पष्ट किया। मात्र यही नहीं जिन मत को भी मिथ्या-मत समूह कहकर उन सभी के प्रति समादर का भाव प्रकट किया। सिद्धसेन के पश्चात् यद्यपि समन्तभद्र ने भी ऐसा ही एक प्रयास किया और विभिन्न दर्शनों में निहित सापेक्षिक सत्त्यों को विभिन्न नयों के आधार पर व्याख्यायित किया फिर भी जिन मत को मिथ्या-मत समूह कहने का जो साहस सिद्धसेन के चिन्तन में था, वह समन्तभद्र के चिन्तन में नहीं आ पाया। सिद्धसेन और समन्तभद्र के पश्चात् जिस दार्शनिक ने अनेकान्त दृष्टि की समन्वयशीलता का सर्वाधिक उपयोग किया वे आचार्य हरिभद्र हैं- हरिभद्र से पूर्व दिगम्बर परम्परा में कुन्दकुन्द ने भी एक प्रयत्न किया था। उन्होंने नियमसार में व्यक्ति की बहुआयामिता को स्पष्ट करते हुए यह कहा था कि व्यक्ति को स्वमत में व परमत में विवाद में नहीं पड़ना चाहिए। किन्तु अनेकान्त दृष्टि से विभिन्न दर्शनों में पारस्परिक समन्वय का जो प्रयत्न हरिभद्र ने, विशेष रूप से अपने ग्रंथ शास्त्रवार्तासमुच्चय में किया वह निश्चय ही विरल है। हरिभद्र ने अनेक प्रसंगों में अपनी वैचारिक उदारता व समन्वयशीलता का परिचय दिया है जिसकी चर्चा हमने अपने लघु पुस्तिका, 'आचार्य हरिभद्र व उनका अवदान', में की है। विस्तारभय से हम उन सब में यहाँ जाना नहीं चाहते। अनेकान्त की इस उदार शैली का प्रभाव परवर्ती जैन आचार्यों पर भी रहा और यही कारण था कि दूसरे दर्शनों की समालोचना करते हुए भी वे आग्रही नहीं बने और

उन्होंने एक सीमा तक उनमें निहित सत्यों को देखने का प्रयत्न किया।

### दार्शनिक विचारों के समन्वय का आधार अनेकांतवाद :

भगवान् महावीर और बुद्ध के समय भारत में वैचारिक संघर्ष और दार्शनिक विवाद अपने चरम सीमा पर थे। जैन आगमों के अनुसार उस समय ३६३ और बौद्ध आगमों के अनुसार ६२ दार्शनिक मत प्रचलित थे। वैचारिक आग्रह और मतान्धता के इस युग में एक ऐसे दृष्टिकोण की आवश्यकता थी, जो लोगों को आग्रह एवं मतान्धता से ऊपर उठकर सही दिशा निर्देश दे सके। भगवान् बुद्ध ने इस आग्रह एवं मतान्धता से ऊपर उठने के लिए विवाद पराङ्मुखता को अपनाया। सुत्तनिपात में वे कहते हैं कि 'मैं विवाद के दो फल बताता हूँ। एक तो वह अपूर्ण व एकांगी होता है और दूसरे कलह एवं अशान्ति का कारण होता है। अतः निर्वाण को निर्विवाद भूमि समझने वाला साधक विवाद में न पड़े (सुत्तनिपात-५१-२१)।' बुद्ध ने अपने युग में प्रचलित सभी पर विरोधी दार्शनिक दृष्टिकोणों को सदोष बताया और इस प्रकार अपने को किसी भी दार्शनिक मान्यता के साथ नहीं बांधा। वे कहते हैं कि पंडित किसी दृष्टि या वाद में नहीं पड़ता (सुत्तनिपात-५१-३)। बुद्ध की दृष्टि में दार्शनिक वादविवाद निर्वाण मार्ग के साधक के कार्य नहीं है (सुत्तनिपात-४६-८-९)। अनासक्त, मुक्त पुरुष के पास विवाद रूपी युद्ध के लिए कोई कारण ही शेष नहीं रह जाता। इसी प्रकार भगवान् महावीर ने भी आग्रह को साधना का सम्यक् पथ नहीं समझा। उन्होंने कहा कि आग्रह, मतान्धता या एकांगी दृष्टि उचित नहीं है जो व्यक्ति अपने मत की प्रशंसा और दूसरों की निन्दा करने में ही पांडित्य दिखाते हैं, वे संसार चक्र में घूमते रहते हैं (सूत्रकृतांग १/१ / २-२३)। इस प्रकार भगवान् महावीर व बुद्ध दोनों ही उस युग की आग्रह वृत्ति एवं मतान्धता से जन मानस को मुक्त करना चाहते थे फिर भी बुद्ध और महावीर की दृष्टि में थोड़ा अन्तर था। जहाँ बुद्ध इन विवादों से बचने की सलाह दे रहे थे, वहीं महावीर इनके समन्वय की एक ऐसी विधायक दृष्टि प्रस्तुत कर रहे थे, जिसका परिणाम स्याद्वाद है।

स्याद्वाद विविध दार्शनिक एकान्तवादों में समन्वय करने का प्रयास करता है। उसकी दृष्टि में अनित्यवाद-क्षणिकवाद, द्वैतवाद-अद्वैतवाद, भेदवाद-अभेदवाद आदि सभी वस्तु स्वरूप के आंशिक पक्षों को स्पष्ट करते हैं। इनमें से कोई भी असत्य तो नहीं है किन्तु पूर्ण सत्य भी नहीं है। यदि इनको कोई असत्य बनाता है तो वह आंशिक सत्य को पूर्ण सत्य मान लेने का उनका आग्रह ही है। स्याद्वाद अपेक्षा भेद से इन सभी के बीच समन्वय करने का प्रयास करता है और यह बताता है कि सत्य तभी असत्य बन जाता है, जबकि हम आग्रही दृष्टि से उसे देखते हैं। यदि हमारी हम हमारी दृष्टि को या अपने को आग्रह से ऊपर उठाकर देखें तो हमें सत्य का दर्शन हो सकता है। सत्य का सच्चा



प्रकाश केवल अनाग्रही को ही मिल सकता है। महावीर के प्रथम शिष्य गौतम का जीवन स्वयं इसका एक प्रत्यक्ष उदाहरण है। गौतम के केवलज्ञान में आखिर कौन सा तत्त्व बाधक बन रहा था? महावीर ने स्वयं इसका समाधान करते हुए गौतम से कहा था- हे गौतम तेरा मेरे प्रति जो ममत्व है यही तेरे केवलज्ञान (सत्य दर्शन) का बाधक है। महावीर की स्पष्ट घोषणा थी कि सत्य का सम्पूर्ण दर्शन आग्रह के घेरे में रहकर नहीं किया सकता। आग्रह बुद्धि या दृष्टिराग सत्य को असत्य बना देता है। सत्य का प्रकटन आग्रह में नहीं, अनाग्रह में होता है, विरोध में नहीं, समन्वय में होता है। सत्य का साधक अनाग्रही और वीतराग होता है, उपाध्याय यशोविजयजी स्याद्वाद की इसी अनाग्रही एवं समन्वयात्मक दृष्टि को स्पष्ट करते हुए अध्यात्मोपनिषद् में लिखते हैं-

यस्य सर्वत्र समता नयेषु, तनयेष्विव।

तस्यानेकान्तवादस्य क्व न्यूनाधिकशेषमुषी ॥६१

तेन स्याद्वादमालम्ब्य सर्वदर्शन तुल्यताम् ।

मोक्षोद्देशाविशेषेण यः पश्यति सः शास्त्रवित् ॥७०

माध्यस्थ्यमेव शास्त्रार्थो येन तच्चारु सिद्ध्यति ।

स एव धर्मवादः स्यादन्यद्वालिशवल्गनम् ॥७१

माध्यस्थ्य सहितं ह्येकपदज्ञानमपि प्रमा ।

शास्त्रकोटिर्वृथैवान्या तथा चोक्तं महात्मना ॥७३

सच्चा अनेकान्तवादी किसी दर्शन से द्वेष नहीं करता। वह सम्पूर्ण दृष्टिकोणों (दर्शनों) को इस प्रकार वात्सल्य दृष्टि से देखता है जैसे कोई पिता अपने पुत्र को, क्योंकि अनेकान्तवादी की न्यूनाधिक बुद्धि नहीं हो सकती। सच्चा शास्त्रज्ञ कहे जाने का अधिकारी तो वही है, जो स्याद्वाद का आलम्बन लेकर सम्पूर्ण दर्शनों में समान भाव रखता है। वास्तव में माध्यस्थ्य भाव ही शास्त्रों का गूढ़ रहस्य है। माध्यस्थ्य भाव रहने पर शास्त्र के पद का ज्ञान भी सफल है अन्यथा करोड़ों शास्त्रों का ज्ञान भी वृथा है। क्योंकि जहाँ आग्रह बुद्धि होती है वहाँ विपक्ष में निहित सत्य का दर्शन संभव नहीं होता। वस्तुतः शाश्वतवाद, उच्छेदवाद, नित्यवाद, अनित्यवाद, भेदवाद, अभेदवाद, द्वैतवाद, हेतुवाद, नियतिवाद, पुरुषार्थवाद, आदि जितने भी दार्शनिक मत-मतान्तर हैं, वे सभी परम सत्ता के विभिन्न पहलुओं से लिये गये चित्र हैं और आपेक्षिक रूप से सत्य हैं। द्रव्य दृष्टि और पर्याय दृष्टि के आधार पर इन विरोधी सिद्धान्तों में समन्वय किया जा सकता है। अतः एक सच्चा स्याद्वादी किसी भी दर्शन से द्वेष नहीं करता है, वह सभी दर्शनों का आराधक होता है। परमयोगी आनन्दधनजी लिखते हैं-

षट् दरसनं जिन अंग भणाजे, न्याय षडंग जो साधे रे ।

नमि जिनवरना चरण उपासक, षट्दर्शन आराधे रे ॥१॥

जिन सुर पादप पाय बखाणुं, सांख्य जोग दोय भेदे रे ।

आतम सत्ता विवरण करता, लही दुय अंग अखेदे रे ॥२॥  
 भेद अभेद सुगत मीमांसक, जिनपर दोय कर भारी रे ।  
 लोकालोक अवलंबन भजिये, गुरुगमथी अवधारी रे ॥३॥  
 लोकायतिक सुख कूख जिनवरकी, अंश विचार जो कीजे ।  
 तत्त्व विचार सुधारस धारा, गुरुगम विण केम पीजे ॥४॥  
 जैन जिनेश्वर उत्तम अंग, अंतरंग बहिरंग रे ।  
 अक्षर न्यास धरा आराधक, आराधे धरी संगे रे ॥५॥

### अनेकांत धार्मिक सहिष्णुता के क्षेत्र में:

सभी धर्म साधना पद्धतियों का मुख्य लक्ष्य राग, आसक्ति, अहं एवं तृष्णा की समाप्ति रहा है। जहाँ जैन धर्म की साधना का लक्ष्य वीतरागता होना और बौद्ध दर्शन की साधना का लक्ष्य वीततृष्णा होना माना गया है। वहीं वेदान्त में अहं और आसक्ति से ऊपर उठना ही मानव का साध्य बताया गया है। लेकिन क्या एकांत या आग्रह वैचारिक राग, वैचारिक आसक्ति, वैचारिक तृष्णा अथवा वैचारिक अहं के ही रूप नहीं हैं और जब तक वे उपस्थित हैं, धार्मिक साधना के क्षेत्र में लक्ष्य की सिद्धि कैसे होगी? जिन साधना पद्धतियों में अहिंसा के आदर्श को स्वीकार किया गया उनके लिए आग्रह या एकान्त वैचारिक हिंसा का प्रतीक भी बन जाता है। एक ओर साधना के वैयक्तिक पहलू की दृष्टि से मताग्रह वैचारिक आसक्ति या राग का ही रूप है तो दूसरी ओर साधना के सामाजिक पहलू की दृष्टि से वह वैचारिक हिंसा है। वैचारिक आसक्ति और वैचारिक हिंसा से मुक्ति के लिए धार्मिक क्षेत्र में अनाग्रह और अनेकान्त की साधना अपेक्षित है। वस्तुतः धर्म का आविर्भाव मानव जाति में शांति और सहयोग के विस्तार के लिए हुआ था। धर्म मनुष्य को मनुष्य से जोड़ने के लिए था लेकिन आज वही धर्म मनुष्य-मनुष्य में विभेद की दीवारें खींच रहा है। धार्मिक मतान्धता में हिंसा, संघर्ष, छल, छद्म, अन्याय, अत्याचार क्या नहीं हो रहा है? क्या वस्तुतः इसका कारण धर्म हो सकता है? इसका उत्तर निश्चित रूप से “हाँ” में नहीं दिया जा सकता। यथार्थ में धर्म नहीं किन्तु धर्म का आवरण डालकर मानव की महत्वाकांक्षा, उसका अहंकार ही यह सब करवाता रहा है। यह धर्म नहीं, धर्म का नकाब डाले अधर्म है।

मूल प्रश्न यह है कि क्या धर्म अनेक हैं या हो सकते हैं? इस प्रश्न का उत्तर अनैकांतिक शैली से यह होगा कि धर्म एक भी है और अनेक भी। साध्यात्मक धर्म या धर्मों का साध्य एक है जबकि साधनात्मक धर्म अनेक हैं। साध्य रूप में धर्मों की एकता और साधन रूप से अनेकता को ही यथार्थ दृष्टिकोण कहा जा सकता है। सभी धर्मों का साध्य है- समत्वलाभ (समाधि) अर्थात् आन्तरिक तथा बाह्य शान्ति की स्थापना तथा

उसके लिए विक्षोभ के जनक राग-द्वेष और अस्मिता (अहंकार) का निराकरण। लेकिन राग-द्वेष और अस्मिता के निराकरण के उपाय क्या हों? यही विचार भेद प्रारम्भ होता है, लेकिन यह विचार भेद विरोध का आधार नहीं बन सकता। एक ही साध्य की ओर उन्मुख होने से वे परस्पर विरोधी नहीं कहे जा सकते। एक ही केन्द्र से योजित होने वाली परिधि से खिंची हुई विभिन्न रेखाओं में पारस्परिक विरोध प्रतीत अवश्य होता है किन्तु वह यथार्थ में होता नहीं है। क्योंकि केन्द्र से संयुक्त प्रत्येक रेखा में एक दूसरे को काटने की क्षमता नहीं होती है किन्तु जैसे ही वह केन्द्र का परित्याग करती है वह दूसरी रेखाओं को अवश्य ही काटती है। साध्य सभी एकता में साधन रूपी धर्मों की अनेकता स्थित है। अतः यदि धर्मों का साध्य एक है तो उनमें विरोध कैसा? अनेकान्त, धर्मों की साध्यपरक मूलभूत एकता और साधन परक अनेकता को इंगित करता है।

विश्व के विभिन्न धर्माचार्यों ने अपने युग की तात्कालिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर अपने सिद्धान्तों एवं साधनों के बाह्य नियमों का प्रतिपादन किया। देशकालगत परिस्थितियों और साधकों की साधना की क्षमता की विभिन्नता के कारण धर्म साधना के बाह्य रूपों में भिन्नताओं का आ जाना स्वाभाविक ही था और ऐसा हुआ भी। किन्तु मनुष्य की अपने धर्माचार्य के प्रति ममता (रागात्मकता) और उसके अपनेमन में व्याप्त आग्रह और अहंकार ने उसे अपने धर्म या साधना पद्धति को ही एक मात्र एवं अन्तिम सत्य मानने को बाध्य किया। फलस्वरूप विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों और उनके बीच साम्प्रदायिक वैमनस्य प्रारम्भ हुआ। मुनिश्रीनेमिचन्द्र ने धर्म सम्प्रदायों के उद्भव की एक सजीव व्याख्या प्रस्तुत की है, वे लिखते हैं कि “मनुष्य स्वभाव बड़ा विचित्र है उसके अहं को जरा सी चोट लगते ही वह अपना अखाड़ा अलग बनाने को तैयार हो जाता है। यद्यपि वैयक्तिक अहं धर्म-सम्प्रदायों के निर्माण का एक कारण अवश्य है लेकिन वही एक मात्र कारण नहीं है। बौद्धिक भिन्नता और देशकालगत तथ्य भी इसके कारण रहे हैं और इसके अतिरिक्त पूर्व प्रचलित परम्पराओं में आयी हुई विकृतियों के संशोधन के लिए भी सम्प्रदाय बने। उनके अनुसार सम्प्रदाय बनने के निम्न कारण हो सकते हैं:

(१) ईर्ष्या के कारण (२) किसी व्यक्ति की प्रसिद्धि की लिप्सा के कारण (३) किसी वैचारिक मतभेद (मताग्रह) के कारण (४) किसी आचार संबंधी नियमोपनियम में भेद के कारण (५) किसी व्यक्ति या पूर्व सम्प्रदाय द्वारा अपमान या खींचातान होने के कारण (६) किसी विशेष सत्य को प्राप्त करने की दृष्टि से और (७) किसी साम्प्रदायिक परम्परा या क्रिया में द्रव्य, क्षेत्र एवं काल के अनुसार संशोधन या परिवर्तन करने की दृष्टि से। उपरोक्त कारणों में अंतिम दो को छोड़कर शेष सभी कारणों से उत्पन्न सम्प्रदाय आग्रह, धार्मिक असहिष्णुता और साम्प्रदायिक विद्वेष को जन्म देते हैं।

विश्व इतिहास का अध्येता इसे भलीभाँति जानता है कि धार्मिक असहिष्णुता ने विश्व में जघन्य दुष्कृत्य कराये। आश्चर्य तो यह है कि इस दमन, अत्याचार, नृशंसता और रक्त प्लावन को धर्म का बाना पहनाया गया। शान्ति प्रदाता धर्म ही अशांति का कारण बना। आज के वैज्ञानिक युग में धार्मिक अनास्था का मुख्य कारण उपरोक्त भी है। यद्यपि विभिन्न मतों, पंथों और वादों में बाह्य भिन्नता परिलक्षित होती है किन्तु यदि हमारी दृष्टि व्यापक और अनाग्रही हो तो उसमें भी एकता और समन्वय के सूत्र परिलक्षित हो सकते हैं।

अनेकांत विचार दृष्टि विभिन्न धर्म-सम्प्रदायों की समाप्ति द्वारा एकता का प्रयास नहीं करती है। क्योंकि वैयक्तिक रुचि भेद एवं क्षमता भेद तथा देशकाल गत भिन्नताओं के होते हुए विभिन्न धर्मों एवं सम्प्रदायों की उपस्थिति अपरिहार्य है। एक धर्म या एक सम्प्रदाय का नारा असंगत एवं अव्यावहारिक नहीं अपितु अशांति और संघर्ष का कारण भी है। अनेकांत विभिन्न धर्म सम्प्रदायों की समाप्ति का प्रयास न होकर उन्हें एक व्यापक पूर्णता में सुसंगत रूप से संयोजित करने का प्रयास हो सकता है। लेकिन इसके लिए प्राथमिक आवश्यकता है — धार्मिक सहिष्णुता और सर्व धर्म समभाव की।

अनेकांत के समर्थक जैनाचार्यों ने इसी धार्मिक सहिष्णुता का परिचय दिया है। आचार्य हरिभद्र की धार्मिक सहिष्णुता तो सर्व विदित ही है। अपने ग्रन्थ शास्त्रवार्ता-समचुच्य में उन्होंने बुद्ध के अनात्मवाद, न्याय दर्शन के ईश्वर कर्तृत्ववाद और वेदान्त के सर्वात्मवाद (ब्रह्मवाद) में भी संगति दिखाने का प्रयास किया। अपने ग्रन्थ लोकतत्त्व-संग्रह में आचार्य हरिभद्र लिखते हैं:

**पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु ।**

**युक्तिमद्वचनं यस्य, तस्य कार्य परिग्रहः ॥**

मुझे न तो महावीर के प्रति पक्षपात है और न कपिलादि मुनिगणों के प्रति द्वेष है। जो भी वचन तर्कसंगत हो उसे ग्रहण करना चाहिए।

इसी प्रकार आचार्य हेमचन्द्र ने शिव-प्रतिमा को प्रणाम करते समय सर्व देव समभाव का परिचय देते हुए कहा था :

**भवबीजांकुरजनना, रागद्या क्षयमुपागता यस्य ।**

**ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरौ, जिनो वा नमस्तस्मै ॥**

संसार परिभ्रमण के कारण रागादि जिसके क्षय हो चुके हैं उसे, मैं प्रणाम करता हूँ चाहे वे ब्रह्मा हों, विष्णु हों, शिव हों या जिन हों।

**राजनैतिक क्षेत्र में अनेकांतवाद के सिद्धान्त का उपयोग :**

अनेकान्तवाद का सिद्धान्त न केवल दार्शनिक एवं धार्मिक अपितु राजनैतिक

विवाद भी हल करता है। आज का राजनैतिक जगत् भी वैचारिक संकुलता से परिपूर्ण है। पूंजीवाद, समाजवाद, साम्यवाद, फासीवाद, नाजीवाद आदि अनेक राजनैतिक विचारधाराएं तथा राजतन्त्र, कुलतन्त्र, अधिनायक तन्त्र, आदि अनेकानेक शासन प्रणालियां वर्तमान में प्रचलित हैं। मात्र इतना ही नहीं उनमें से प्रत्येक एक दूसरे की समाप्ति के लिए प्रयत्नशील हैं। विश्व के राष्ट्र खेमों में बंटे हुए हैं और प्रत्येक खेमें का अग्रणी राष्ट्र अपना प्रभाव क्षेत्र बढ़ाने हेतु दूसरे के विनाश में तत्पर है। मुख्य बात यह है कि आज का राजनैतिक संघर्ष मात्र आर्थिक हितों का संघर्ष न होकर वैचारिकता का भी संघर्ष है। आज अमेरिका, चीन और रूस अपनी वैचारिक प्रभुसत्ता के प्रभाव को बढ़ाने के लिए ही प्रतिस्पर्धा में लगे हुए हैं। एक दूसरे को नाम-शेष करने की उनकी यह महत्वाकांक्षा कहीं मानव जाति को ही नाम-शेष न कर दे।

आज के राजनैतिक जीवन में स्याद्वाद के दो व्यावहारिक फलित— वैचारिक सहिष्णुता और समन्वय अत्यन्त उपादेय हैं। मानव जाति ने राजनैतिक जगत् में, राजतन्त्र से प्रजातन्त्र तक की जो लम्बी यात्रा तय की है उसकी सार्थकता स्याद्वाद दृष्टि को अपनाने में ही है। विरोधी पक्ष द्वारा की जाने वाली आलोचना के प्रति सहिष्णु होकर उसके द्वारा अपने दोषों को समझना और उन्हें दूर करने का प्रयास करना, आज के राजनैतिक जीवन की सबसे बड़ी आवश्यकता है। विपक्ष की धारणाओं में भी सत्यता हो सकती है और सबल विरोधी दल की उपस्थिति से हमें अपने दोषों के निराकरण का अच्छा अवसर मिलता है, इस विचार-दृष्टि और सहिष्णु भावना में ही प्रजातन्त्र का भविष्य उज्ज्वल रह सकता है। राजनैतिक क्षेत्र में संसदीय प्रजातन्त्र (Parliamentary Democracy) वस्तुतः राजनैतिक स्याद्वाद है। इस परम्परा में बहुमत दल द्वारा गठित सरकार अल्पमत दल को अपने विचार प्रस्तुत करने का अधिकार मान्य करती है और यथा सम्भव उससे लाभ भी उठाती है। दार्शनिक क्षेत्र में जहाँ भारत स्याद्वाद का सर्जक है, वहीं वह राजनैतिक क्षेत्र में संसदीय प्रजातन्त्र का समर्थक भी है। अतः आज स्याद्वाद सिद्धान्त का व्यावहारिक क्षेत्र में उपयोग करने का दायित्व भारतीय राजनीतिज्ञों पर है। इसी प्रकार हमें यह भी समझना है कि राज्य-व्यवस्था का मूल लक्ष्य जनकल्याण को दृष्टि में रखते हुए विभिन्न राजनैतिक विचारधाराओं के मध्य एक सांग संतुलन स्थापित करना है। आवश्यकता सैद्धांतिक विवादों की नहीं अपितु जनहित के संरक्षण एवं मानव की पाशाविक वृत्तियों के नियन्त्रण की है।

### मनोविज्ञान और अनेकान्तवाद

वस्तुतः अनेकान्तवाद न केवल एक दार्शनिक पद्धति है अपितु वह मानवीय व्यक्तित्व की बहुआयामिता को भी स्पष्ट करती है। जिस प्रकार वस्तुतत्त्व विभिन्न गुणधर्मों से युक्त होता है उसी प्रकार से मानव व्यक्तित्व भी विविध विशेषताओं या विलक्षणताओं

का पुंज है, उसके भी विविध आयाम हैं। प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व के भी विविध आयाम या पक्ष होते हैं, मात्र यही नहीं उसमें परस्पर विरोधी गुण भी देखने को मिलते हैं। सामान्यतया वासना व विवेक परस्पर विरोधी माने जाते हैं किन्तु मानव व्यक्तित्व में ये दोनों विरोधी गुण एक साथ उपस्थित हैं। मनुष्य में एक ओर अनेकानेक वासनायें, इच्छायें और आकांक्षाएं रही हुई होती हैं तो दूसरी ओर उसमें विवेक का तत्त्व भी होता है जो उसकी वासनाओं, आकांक्षाओं और इच्छाओं पर नियंत्रण रखता है। यदि मानव व्यक्तित्व को समझना है तो हमें उसके वासनात्मक पहलू और आदर्शात्मक पहलू (विवेक) दोनों को ही देखना होगा। मनुष्य में न केवल वासना और विवेक के परस्पर विरोधी गुण पाये जाते हैं, अपितु उसमें अनेक दूसरे भी परस्पर विरोधी गुण देखे जाते हैं। उदाहरणार्थ-विद्वत्ता या मूर्खता को लें। प्रत्येक व्यक्ति में विद्वत्ता में मूर्खता और मूर्खता में विद्वत्ता समाहित होती है। कोई भी व्यक्ति समग्रतः विद्वान् या समग्रतः मूर्ख नहीं होता है। मूर्ख में भी कहीं न कहीं विद्वत्ता और विद्वान् में भी कहीं न कहीं मूर्खता छिपी रहती है। किसी को विद्वान् या मूर्ख मानना, यह सापेक्षिक कथन ही हो सकता है। मानव व्यक्तित्व के सन्दर्भ में मनोविश्लेषणवादियों ने वासनात्मक अहम् और आदर्शात्मक अहम् की जो अवधारणायें प्रस्तुत की हैं वे यही सूचित करती हैं कि मानव व्यक्तित्व बहुआयामी है। उसमें ऐसे अनेक परस्पर विरोधी गुणधर्म छिपे हुए हैं। प्रत्येक व्यक्ति में जहाँ एक ओर कोमलता या करुणा का भाव रहा हुआ है वहीं दूसरी ओर उसमें आक्रोश और अहंकार भी विद्यमान है। एक ही मनुष्य के अन्दर इनफिरियारिटी काम्पलेक्स और सुपीरियारिटी काम्पलेक्स दोनों ही देखे जाते हैं। कभी-कभी तो हीनत्व की भावना ही उच्चत्व की भावना में अनुस्यूत देखी जाती है। भय और साहस परस्पर विरोधी गुणधर्म हैं। किन्तु कभी-कभी भय की अवस्था में ही व्यक्ति अकल्पनीय साहस का प्रदर्शन करता है। इस प्रकार मानव व्यक्तित्व में वासना और विवेक, ज्ञान और अज्ञान, राग और द्वेष, कारुणिकता और आक्रोश, हीनत्व और उच्चत्व की ग्रन्थियां एक साथ देखी जाती हैं। इससे यह फलित होता है कि मानव व्यक्तित्व भी बहुआयामी है और उसे सही प्रकार से समझने के लिए अनेकान्त की दृष्टि आवश्यक है।

### प्रबन्धशास्त्र और अनेकान्तवाद

वर्तमान युग में प्रबन्धशास्त्र एक महत्वपूर्ण विधा है, किन्तु यह विधा भी अनेकान्त दृष्टि पर ही आधारित है। किस व्यक्ति से किस प्रकार कार्य लिया जाये ताकि उसकी सम्पूर्ण योग्यता का लाभ उठाया जा सके, यह प्रबन्धशास्त्र की विशिष्ट समस्या है। प्रबन्धशास्त्र चाहे वह वैयक्तिक हो या संस्थागत उसका सर्वाधिक महत्वपूर्ण पक्ष तो व्यक्ति ही होता है और प्रबन्ध और प्रशासक की सफलता इसी बात पर निर्भर होती है कि हम उस व्यक्ति के व्यक्तित्व और उसके प्रेरक तत्त्वों को किस प्रकार समझाये। एक

व्यक्ति के लिए मृदु आत्मीय व्यवहार एक अच्छा प्रेरक हो सकता है तो दूसरे के लिए कठोर अनुशासन की आवश्यकता हो सकती है। एक व्यक्ति के लिए आर्थिक उपलब्धियाँ ही प्रेरक का कार्य करती हैं तो दूसरे के लिए पद और प्रतिष्ठा महत्त्वपूर्ण प्रेरक तत्त्व हो सकते हैं। प्रबन्धव्यवस्था में हमें व्यक्ति की प्रकृति और स्वभाव को समझना आवश्यक होता है। एक प्रबन्धक तभी सफल हो सकता है जब वह मानव प्रकृति की इस बहुआयामिता को समझे और व्यक्ति विशेष के सन्दर्भ में यह जाने की उसके जीवन की प्राथमिकतायें क्या हैं? प्रबन्ध और प्रशासन के क्षेत्र में एक ही चाबुक से सभी को नहीं हँका जा सकता। जिस प्रबन्धक में प्रत्येक व्यक्ति की प्रकृति की जितनी अच्छी समझ होगी, वही उतना सफल प्रबन्धक होगा। इसके लिए अनेकांत दृष्टि या सापेक्ष दृष्टि को अपनाना आवश्यक है।

प्रबन्धशास्त्र के क्षेत्र में वर्तमान में समग्र गुणवत्ता प्रबन्धन (Total Quality Management) की अवधारणा प्रमुख बनती जा रही है, किन्तु व्यक्ति अथवा संस्था की समग्र गुणवत्ता का आकलन निरपेक्ष नहीं है। गुणवत्ता के अन्तर्गत अनेक गुणों की पारस्परिक समन्वयात्मकता आवश्यक होती है विभिन्न गुणों का पारस्परिक सामंजस्य में रहते हुए जो एक समग्र रूप बनता है वह ही गुणवत्ता का आधार है। अनेक गुणों के पारस्परिक सामंजस्य में ही गुणवत्ता निहित होती है। व्यक्ति के व्यक्तित्व में विभिन्न गुण एक दूसरे के साथ समन्वय करते हुए रहते हैं। विभिन्न गुणों की यही सामंजस्यतापूर्ण स्थिति ही गुणवत्ता का आधार है। व्यक्ति के व्यक्तित्व में विभिन्न गुण ठीक उसी प्रकार सामंजस्य पूर्वक रहते हैं जिस प्रकार शरीर के विभिन्न अवयव सामंजस्यपूर्ण स्थिति में रहते हैं। जैसे शरीर के विभिन्न अंगों का सामंजस्य टूट जाना शारीरिक विकृति या विकलांगता का प्रतीक है उसी प्रकार व्यक्ति के जीवन के गुणों में पारस्परिक सामंजस्य का अभाव व्यक्तित्व के विखण्डन का आधार बनता है। पारस्परिक सामंजस्य में ही समग्र गुणवत्ता का विकास होता है। अनेकान्त दृष्टि व्यक्तित्व के उन विभिन्न गुणों या पक्षों और उनके पारस्परिक सामंजस्य को समझने का आधार है। व्यक्ति में वासनात्मक पक्ष अर्थात् उसकी जैविक आवश्यकताएं और विवेकात्मक पक्ष अर्थात् वासनाओं के संयमन की शक्ति दोनों की अपूर्ण समझ किसी प्रबन्धक के प्रबन्धन की असफलता का कारण ही होगी। समग्र गुणवत्ता विभिन्न गुणों अथवा पक्षों और उनके पारस्परिक सामंजस्य की समझ पर ही आधारित होती है और यह समझ ही प्रबन्धशास्त्र का प्राण है। दूसरे शब्दों में कहें तो अनेकान्त दृष्टि के आधार पर ही सम्पूर्ण प्रबन्धशास्त्र अवस्थित है। विविध पक्षों के अस्तित्व की स्वीकृति के साथ उनके पारस्परिक सामंजस्य की संभावना को देख पाना प्रबन्धशास्त्र की सर्वोत्कृष्टता का आधार है।

## समाजशास्त्र और अनेकान्तवाद

समाजशास्त्र के क्षेत्र में सबसे महत्वपूर्ण समस्या व्यक्ति और समाज के पारस्परिक संबंधों को सम्यक् प्रकार से समझ पाना या समझा पाना ही है। व्यक्ति के बिना समाज और समाज के बिना व्यक्ति (सभ्य व्यक्ति) का अस्तित्व संभव नहीं है। जहाँ एक ओर व्यक्तियों के आधार पर ही समाज खड़ा होता है। वहीं दूसरी ओर व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्माण समाज-रूपी कार्यशाला में ही सम्पन्न होता है। जो विचारधारायें व्यक्ति और समाज को एक दूसरे से निरपेक्ष मानकर चलती हैं वे न तो सही रूप में व्यक्ति को समझ पाती हैं और न ही समाज को। व्यक्ति और समाज दोनों का अस्तित्व परस्पर सापेक्ष है। इस सापेक्षता को समझे बिना न तो व्यक्ति को ही समझा जा सकता है और न समाज को। समाजशास्त्र के क्षेत्र में अनेकान्त दृष्टि व्यक्ति और समाज के इस सापेक्षिक संबंध को देखने का प्रयास करती है। व्यक्ति और समाज एक दूसरे से निरपेक्ष नहीं हैं। यह समझ ही समाजशास्त्र के सभी सिद्धान्तों का मूलभूत आधार है। सामाजिक सुधार के जो भी कार्यक्रम हैं उनका आवश्यक अंग व्यक्ति सुधारना भी है। न तो सामाजिक सुधार के बिना व्यक्ति सुधार संभव है न व्यक्ति सुधार के बिना सामाजिक सुधार। वस्तुतः व्यक्ति और समाज में आंगिकता का संबंध है। व्यक्ति में समाज और समाज में व्यक्ति इस प्रकार अनुस्यूत हैं कि उन्हें एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। व्यक्ति और समाज की इस सापेक्षिकता को समझना समाजशास्त्र के लिए आवश्यक है और यह समझ अनेकान्त दृष्टि के विकास से ही संभव है क्योंकि वह एकत्व में अनेकत्व अथवा एकता में विभिन्नता तथा विभिन्नता में एकता का दर्शन करती है, उसके लिए एकत्व और पृथक्त्व दोनों का ही समान महत्त्व है। वह यह मानकर चलती है कि व्यक्ति और समाज परस्पर सापेक्ष है और एक के अभाव में दूसरे की कोई सत्ता नहीं है।

सामाजिक नैतिकता से जुड़ा एक दूसरा महत्वपूर्ण प्रश्न है वैयक्तिक कल्याण और सामाजिक कल्याण में किसे प्रमुख माना जाय? इस समस्या के समाधान के लिए भी हमें अनेकान्त दृष्टि को ही आधार बनाकर चलना होगा। यदि व्यक्ति और समाज परस्पर सापेक्ष है, व्यक्ति के हित में समाज का हित है और समाज के हित में व्यक्ति का हित समायोजित है तो इन्हें अलग नहीं किया जा सकता है। जो लोग वैयक्तिक हितों और सामाजिक हितों को परस्पर निरपेक्ष मानते हैं, वे वस्तुतः व्यक्ति और समाज के पारस्परिक संबंधों से अनभिज्ञ हैं। वैयक्तिक कल्याण और सामाजिक कल्याण परस्पर भिन्न प्रतीत होते हुए भी एक दूसरे से पृथक् नहीं हैं। हमें यह मानना होगा कि समाज के हित में ही व्यक्ति का हित है और व्यक्ति के हित में समाज का हित। अतः एकान्त स्वार्थपरतावाद और एकान्त परोपकारवाद दोनों ही संगत सिद्धान्त नहीं हो सकते। न तो वैयक्तिक हितों की उपेक्षा की जा सकती है न ही सामाजिक हितों की। अनेकान्त दृष्टि हमें यही बताती है



कि वैयक्तिक कल्याण में सामाजिक कल्याण और सामाजिक कल्याण में वैयक्तिक कल्याण अनूस्यूत है। दूसरे शब्दों में वे परस्पर सापेक्ष हैं।

### पारिवारिक जीवन में स्याद्वाद दृष्टि का उपयोग

कौटुम्बिक क्षेत्र में इस पद्धति का उपयोग परस्पर कुटुम्बों में और कुटुम्ब के सदस्यों में संघर्ष को टालकर शान्तिपूर्ण वातावरण का मार्ग प्रशस्त कर सकता है। सामान्यतया पारिवारिक जीवन में संघर्ष के दो केन्द्र होते हैं। पिता-पुत्र तथा सास-बहू। इन दोनों विवादों में मूल कारण दोनों का दृष्टिभेद है। पिता जिस परिवेश में बड़ा हुआ, उन्हीं संस्कारों के आधार पर पुत्र का जीवन ढालना चाहता है। पिता की दृष्टि अनुभव प्रधान होती है, जबकि पुत्र की दृष्टि तर्कप्रधान। एक प्राचीन संस्कारों से ग्रसित होता है तो दूसरा उन्हें समाप्त कर देना चाहता है। यह स्थिति सास-बहू में होती है। सास यह अपेक्षा करती है कि बहू ऐसा जीवन जिये जैसा उसने स्वयं बहू के रूप में जिया था, जब कि बहू अपने युग के अनुरूप और अपने मातृ पक्ष के संस्कारों से प्रभावित जीवन जीना चाहती है। मात्र इतना ही नहीं, उसकी अपेक्षा यह भी होती है कि वह उतना ही स्वतन्त्र जीवन जिये, जैसा वह अपने माता-पिता के पास जीती थी। इसके विपरीत स्वसुर पक्ष उससे एक अनुशासित जीवन की अपेक्षा करता है। यही सब विवाद के कारण बनते हैं। इसमें जब तक सहिष्णु दृष्टि और दूसरे की स्थिति को समझने का प्रयास नहीं किया जाता, तब तक संघर्ष समाप्त नहीं हो सकता। वस्तुतः इसके मूल में जो दृष्टिभेद है, उसे अनेकान्त पद्धति से सम्यक् प्रकार से जाना जा सकता है।

वास्तविकता यह है कि हम जब दूसरे के सम्बन्ध में कोई विचार करें, कोई निर्णय लें तो स्वयं अपने को उस स्थिति में खड़ा कर सोचना चाहिए। दूसरे की भूमिका में स्वयं को खड़ा करके ही उसे सम्यक् प्रकार से जाना जा सकता है। पिता-पुत्र से जिस बात की अपेक्षा करता है उसके पहले अपने को पुत्र की भूमिका में खड़ा कर विचार कर ले। अधिकारी कर्मचारी से किस ढंग से काम लेना चाहता है, उसके पहले स्वयं को उस स्थिति में खड़ा करे, फिर निर्णय ले। यही एक ऐसी दृष्टि है, जिसके अभाव में लोक व्यवहार असम्भव है और इसी आधार पर अनेकान्तवाद जगद्गुरु होने का दावा करता है।

### अर्थशास्त्र और अनेकान्त

सामान्यतया अर्थशास्त्र का उद्देश्य जन समान्य का आर्थिक कल्याण होता है किन्तु आर्थिक प्रगति के पीछे मूलतः वैयक्तिक हितों की प्रेरणा ही कार्य करती है। यही कारण है कि अर्थशास्त्र के क्षेत्र में पूंजीवादी और साम्यवादी दृष्टियों के केन्द्र बिन्दु ही भिन्न-भिन्न बन गए। साम्यवादी शक्तियों का आर्थिक क्षेत्र में पिछड़ने का एकमात्र कारण यह रहा कि उन्होंने आर्थिक प्रगति के लिए वैयक्तिक प्रेरणा की उपेक्षा की, किन्तु दूसरी ओर यह भी हुआ कि वैयक्तिक आर्थिक प्रेरणा और वैयक्तिक अर्थलाभ को प्रमुखता देने

के कारण सामाजिक कल्याण की आर्थिक दृष्टि असफल हो गयी और उपभोक्तावाद इतना प्रबल हो गया कि उसने सामाजिक आर्थिक कल्याण की पूर्णतः उपेक्षा कर दी। परिणाम स्वरूप अमीर और गरीब के बीच खाई अधिक गहरी होती गयी।

इसी प्रकार अर्थशास्त्र के क्षेत्र में आर्थिक प्रगति का आधार व्यक्ति की इच्छाओं, आकांक्षाओं और आवश्यकताओं को बढ़ाना मान लिया गया। किन्तु इसका परिणाम यह हुआ कि अर्थशास्त्र के क्षेत्र में स्वार्थपरता और शोषण की दृष्टि ही प्रमुख हो गयी। आवश्यकताओं की सृष्टि और इच्छाओं की पूर्ति को ही आर्थिक प्रगति का प्रेरक तत्त्व मानकर हमने आर्थिक साधन और सुविधाओं में वृद्धि की, किन्तु उसके परिणामस्वरूप आज मानव जाति उपभोक्तावादी संस्कृति से ग्रसित हो गयी है और इच्छाओं और आकांक्षाओं की दृष्टि के साथ चाहे भौतिक सुख-सुविधाओं के साधन बढ़े भी हों किन्तु उसने मनुष्य की अन्तरात्मा को विपन्न बना दिया। आकांक्षाओं की पूर्ति की दौड़ में मानव अपनी आन्तरिक शान्ति खो बैठा। फलतः आज हमारा आर्थिक क्षेत्र विफल होता दिखाई दे रहा है। वस्तुतः इस सब के पीछे आर्थिक प्रगति को ही एकमात्र लक्ष्य बना लेने की एकान्तिक जीवन दृष्टि है।

कोई भी तंत्र चाहे वह अर्थतंत्र हो, राजतंत्र या धर्मतंत्र, बिना अनेकान्त दृष्टि को स्वीकार किये सफल नहीं हो सकता, क्योंकि इन सबका मूल केन्द्र तो मनुष्य ही है। जब तक वे मानव व्यक्तित्व की बहुआयामिता और उसमें निहित सामान्यताओं को नहीं स्वीकार करेंगे, तब तक इन क्षेत्रों में हमारी सफलताएं भी अन्ततः विफलताओं में ही बदलती रहेंगी। वस्तुतः अनेकान्त दृष्टि ही एक ऐसी दृष्टि है जो मानव के समग्र कल्याण की दिशा में हमें अग्रसर कर सकती है। समग्रता की दिशा में अंगों की उपेक्षा नहीं, अपितु उनका पारस्परिक सामंजस्य ही महत्वपूर्ण होता है और अनेकान्तवाद का यह सिद्धान्त इसी व्यावहारिक जीवन दृष्टि को समुपस्थित करता है।

### अनेकान्त को जीने की आवश्यकता:

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हो रही है कि - अनेकान्त के व्यावहारिक पक्ष पर श्री नवीन भाई शाह की हार्दिक इच्छा, प्रेरणा और अर्थ सहयोग से मेरे निर्देशन में लगभग छः वर्ष पूर्व अहमदाबाद में जो संगोष्ठी हुई थी, उसमें प्रस्तुत कुछ महत्वपूर्ण निबन्ध अब प्रकाशित हो रहे हैं। अनेकान्तवाद के सैद्धान्तिक पक्ष पर तो प्राचीन काल से लेकर अब तक बहुत विचार-विमर्श या आलोचन-प्रत्यालोचन हुआ किन्तु उसका व्यावहारिक पक्ष उपेक्षित ही रहा। यह श्री नवीन भाई की उत्कट प्रेरणा का ही परिणाम था कि अनेकान्त के इस उपेक्षित पक्ष पर न केवल संगोष्ठी और निबन्ध-प्रतियोगिता का आयोजन हुआ, अपितु इस हेतु प्राप्त निबन्धों या निबन्धों के चयनित अंश का प्रकाशन भी हो रहा है। अनेकान्तवाद मात्र सैद्धान्तिक चर्चा का विषय नहीं है, वह प्रयोग में लाने का विषय है,

क्योंकि इस प्रयोगात्मकता के द्वारा ही हम वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के संघर्षों एवं वैचारिक विवादों का निराकरण कर सकते हैं। अनेकांतवाद को मात्र जान लेना या समझ लेना ही पर्याप्त नहीं है, उसे व्यावहारिक जीवन में जीना भी होगा और तभी उसके वास्तविक मूल्यवत्ता को समझ सकेंगे।

हम देखते हैं कि अनेकांत एवं स्याद्वाद के सिद्धान्त दार्शनिक, धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक एवं पारिवारिक जीवन के विरोधों के समन्वय की एक ऐसी विधायक दृष्टि प्रस्तुत करते हैं जिससे मानव जाति को संघर्षों के निराकरण में सहायता मिल सकती है।

अन्त में मैं श्री नवीनभाई शाह और मैरे उन सभी विद्वत् साथियों, जिनके सहयोग से यह उपक्रम पूर्ण हो सका, धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ। ग्रन्थ के सम्पादन के समय प्रस्तुत प्रकाशन के पृष्ठों की सीमा रेखा के कारण कुछ निबन्धों और निबन्ध अंशों को हम समाहित नहीं कर सके इसके लिए हम क्षमा प्रार्थी हैं। इस सम्पूर्ण उपक्रम में प्रारम्भ से लेकर अन्त तक मेरे सहयोगी रहे डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय का विशेष आभारी हूँ जिनके सहयोग से यह उपक्रम पूर्ण हो सका। इसके सम्पादन, प्रूफ-संशोधन और प्रकाशन में उनके द्वारा किया गया श्रम सराहनीय है। इन सबके अतिरिक्त पार्श्वनाथ विद्यापीठ के निदेशक डॉ० भागचन्द्र जैन भास्कर एवं संचालकद्वय श्री भूपेन्द्रनाथ जी जैन एवं श्री इन्द्रभूति बरड़ और विद्यापीठ परिवार के सभी सदस्य भी धन्यवाद के पात्र हैं जिनके प्रत्यक्ष या परोक्ष सहयोग से प्रस्तुत प्रकाशन हो रहा है।

श्रुतपंचमी, १९९९

डॉ० सागरमल जैन  
८२, नई सड़क, शाजापुर



## Our Important Publications

- |   |                               |
|---|-------------------------------|
| 1. Studies in Jaina Philosophy -                                | Dr. N. M. Tatia               |
| 2. Jaina Temples of Western India                               | Dr. H. Singh                  |
| 3. Jaina Epistemology   | I. C. Shastri                 |
| 4. Concept of Panchasheel in Indian Thought                     | Dr. K. Jain                   |
| 5. Concept of Matter in Jaina Philosophy                        | Dr. J. C. Sikdar              |
| 6. Jaina Theory of Reality                                      | Dr. J. C. Sikdar              |
| 7. Jaina Perspective in Philosophy & Religion                   | Dr. R. Singh                  |
| 8. Aspects of Jainology (Complete set: Volms. I to VII)         |                               |
| 9. An Introduction to Jaina Sadhana                             | Dr. Sagarmal Jain             |
| 10. Pearls of Jaina Wisdom                                      | Dulichand Jain                |
| 11. Scientific Contents In Prakrit Canons                       | Dr. N. L. Jain                |
| 12. The Path of Arhat   | T. U. Mehta                   |
| 13. Jainism: the Oldest Living Religion                         | Dr. Jyoti Pd. Jain            |
| 14. Doctrine of Karma in Jaina Philosophy                       | Dr. H. Glasenapp              |
| 15. Aparigraha : the Humane Solution                            | Dr. Kamla Jain                |
| 16. Jaina Monastic Jurisprudence.                               | Dr. S. B. Deo                 |
| 17. Rishibhasita : a Study                                      | Dr. Sagarmal Jain             |
| 18. A Cultural History of Nisheeth Churni                       | Dr. Madhu Sen                 |
| 19. Political History of Northern India<br>from Jaina Sources   | G. C. Chaudhari               |
| 20. Values of Human Life  | Dr. Jagadish Sahay Shrivastav |
| 21. Jainism in Global Perspective Ed. S. M. Jain & S. P. Pandey |                               |
| 22. Jainism In India  | G. Lalvani                    |
| 23. The Heritage of Last Arhat                                  | Dr. Charlotte Krause          |
| 24. Charlotte Krause: Her Life & Literature Ed. S. P. Pandey    |                               |
| 25. Jaina Karmology   | Dr. N. L. Jain                |
| 26. Jaina Biology   | Dr. N. L. Jain                |
| 27. Studies in Jaina Art  | Dr. U. P. Shah                |

Pārśwanātha Vidyāpīṭha, Varanasi- 221005  
(INDIA)